रीढ़ की हड्डी

आठ एकांकी

सम्पादक
विष्णु प्रभाकर

सत्साहित्य प्रकाशन

रीढ़ की हड्डी

[हिन्दी के आठ विशेष एकांकी]

सम्पादक

विष्णु प्रभाकर

१९५३

सत्साहित्य-प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

दूसरी बार : १९५३
मूल्य
डेढ़ रुपया

मुद्रक
रामा कृष्णा प्रेस
दिल्ली

भूमिका

आज के युग में एकांकी की मांग जिस गति से बढ़ रही है वह उसके भविष्य के लिए शुभ लक्षण माना जा सकता है। केवल पढ़ने के लिए ही नहीं, खेलने के लिए भी एकांकी का प्रसार बढ़ रहा है और इस प्रसार के कारण हिन्दी रंगमंच के नव-निर्माण की आवाज भी उठ रही है। स्कूल और कालेज की सीमित परिधि से निकलकर एकांकी देहात के मुक्त प्रांगण में पहुँच गया है। देहातों में लोक-रंगमंच की पुरानी परम्परा नये युग की प्रतिभा का परस पाकर फिर से पनप उठी है। सारे देश में घूमन्तू नाट्यमंडलियों की स्थापना फिर से होने लगी है। रेडियो ने भी एकांकी के प्रसार को गति दी है।

एकांकी का इतिहास पुराना न होकर भी नया नहीं है। यद्यपि बीस वर्ष पहले आधुनिक एकांकी को हिन्दी में कोई नहीं जानता था, तो भी उस काल में लिखे जाने वाले प्रहसनों को एकांकी न सही, इनका पूर्वज तो माना ही जा सकता है। यही नहीं, इस परम्परा को बड़ी सरलता से संस्कृत के नाट्यसाहित्य तक ले जाया जा सकता है और 'गोष्ठी', 'काव्य', 'अंक' आदि को एकांकी के विभिन्न रूप स्वीकार करने में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। महाकवि भास के 'ऊरु-भंग' और नीलकंठ के 'कल्याण सौगंधिक' से सभी परिचित हैं।

लेकिन भारतेन्दु-काल में एकांकी के नाम पर जो-कुछ सामग्री मिलती है उसमें आधुनिक एकांकी के तत्वों का अभाव है। उसकी चर्चा करने से पूर्व उस काल के सम्पूर्ण नाट्यसाहित्य पर एक विहंगम दृष्टि डाल देना उचित होगा।

संस्कृत के नाट्यसाहित्य के बहुत समृद्ध होने पर भी हिन्दी ने उससे लाभ नहीं उठाया। इसके कई कारण थे। एक तो नाट्यसाहित्य

के पनपने के लिए जिस शान्ति और उत्साह की आवश्यता होती है, लड़ाई-झगड़ों के कारण उसका यहाँ अभाव था। दूसरे हिन्दी में गद्य का विकास बहुत देर से हुआ। तीसरा कारण भी कम महत्व-पूर्ण नहीं है। मुसलमानों में मूर्ति-पूजा और अनुकरण का निषेध है। इसलिए उनसे सम्पर्क होने के बाद इस कला को कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। इन सब कारणों से भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द से पहले हिन्दी में नाटकों का प्रायः अभाव ही है। जो नाटक मिलते हैं उनमें अधिकतर अनुवाद हैं।

भारतेन्दु बहुमुखी प्रतिभा वाले व्यक्ति थे। उन्होंने जहां युग पर अपना प्रभाव डाला, वहां उसकी नई प्रवृत्तियों से पूरा-पूरा लाभ भी उठाया। उनके काल तक भारत अंग्रेजों के सम्पर्क में आ चुका था और वह अंग्रेजी नाटक से अपरिचित नहीं रहा था। बंगाल पर तो उनकी छाप पूरे तौर पर पड़ चुकी थी। भारतेन्दु अंग्रेजी, बंगला, संस्कृत तीनों भाषाएँ जानते थे, इसलिए उनके नाटकों में जहां प्राचीनता है, वहां नवयुग का प्रभाव भी है। शृंगार, हास्य और कौतुक के साथ समाज सुधार और देशभक्ति का आदर्श भी है। इस काल के नाट्यसाहित्य में कई मौलिक परिवर्तन हुए। पहले नाटकों में जो प्रस्तावना आदि रहती थी वह अब समाप्त हो चली। नाटककार पौराणिक विषयों को छोड़कर सामाजिक विषयों पर नाटक लिखने लगे। ऐतिहासिक नाटकों की नींव भी इसी काल में पड़ी। गद्य का प्रयोग बढ़ गया और हास्य-व्यंग्य की मात्रा अधिक रहने लगी।

भारतेन्दु के बाद महावीरप्रसाद द्विवेदी के काल में अनुवादों की भरमार रही। कुछ मौलिक नाटक भी लिखे गये; परन्तु उनमें से अधिकतर पेशेवर नाटक-कम्पनियों के लिए लिखे गये थे। इन नाटकों में साहित्य के स्थान पर लोकरुचि का ध्यान रखा जाता था। इस काल का रंगमंच भी बड़ा अस्वाभाविक था। इसलिए इन नाटकों का साहित्य में कोई स्थान नहीं है। इस युग की मुख्य देन केवल यही है कि नाटकों में

खड़ी बोली गद्य का प्रयोग बढ़ा और रंगमंच पर हिन्दी को स्थान मिल गया।

नाट्यसाहित्य का प्रारम्भ जिस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से माना जाता है उसी प्रकार उसका वास्तविक विकास बा० जयशंकरप्रसाद के उदय के साथ होता है। उनके इस क्षेत्र में आने पर जो नई प्रवृत्तियां विकसित हुईं वे महत्त्वपूर्ण हैं। प्राचीन नाटकों में मंगलाचरण, नान्दी, सूत्रधार और भरत वाक्य आदि जो शास्त्रीय नियम रहते थे वे अब समाप्त हो गए तथा हत्या और युद्ध आदि के दृश्य, जो नहीं दिखाये जाते थे, उनका बेरोकटोक प्रयोग होने लगा। ब्रजभाषा प्रायः समाप्त हो गई और गद्य की प्रचुरता बढ़ गई। धार्मिक के स्थान पर सामाजिक तथा पौराणिक के स्थान पर ऐतिहासिक कथावस्तु को प्रधानता मिलने लगी। प्रसादजी के प्रायः सभी नाटक ऐतिहासिक हैं। दैवी घटनाओं के लोप हो जाने पर मनुष्य का महत्व भी बढ़ गया। सभी जाति के पात्रों का चित्रण होने लगा। प्राचीन नाटकों में आदर्शवाद के कारण उनके पात्रों में प्रायः अन्तर्द्वन्द्व नहीं होता था। संघर्ष तो दूर की बात है, पर प्रसाद के युग में आदर्श के प्रति पुरानी भक्ति नहीं रही। समाज में संघर्ष बढ़ गया और उसी के साथ नाटकों पर भी उसकी छाप पड़ने लगी। साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है। इस प्रवृत्ति के कारण चरित्र के विकास को भी स्थान मिला। नाटकों में अन्तर्द्वन्द्व बढ़ गया। पुराने नाटकों में भावों की गम्भीरता नहीं थी, बल्कि शब्दों का तूफान अधिक था। प्रसाद ने अन्तर्वेदना को स्थान देकर उस तूफान को शान्त किया।

इस प्रकार प्रसादजी के आते-आते विकास की एक मंजिल पूरी हो जाती है। इन्हीं के साथ-साथ हम नवयुग में प्रवेश करते हैं। नवयुग पर इब्सन और बर्नार्ड शा के नाटकों का प्रभाव है। प्रसाद के नाटकों से वे बहुत आगे बढ़ गए हैं।

आज के नाटकों में प्रतिदिन जीवन से सम्बंध रखने वाली समस्याएं हैं। पात्र भी राजा-रानी या विशिष्ट व्यक्ति न होकर समाज के वे दूसरे लोग हैं जिन्हें हम कल तक छोटा समझते रहे थे। आज का नाटककार अतीत की ओर नहीं देखता, भविष्य की ओर देखता है। वर्तमान युग में फुरसत कम है और दौड़-धूप अधिक है। नाटक पर इस बात का पूरा प्रभाव पड़ा है। रामायण-जैसे महाकाव्यों का युग समाप्त हो चुका है। अब तो मुक्तक यानी फुटकर कविताओं की मांग है। पैदल, बैलगाड़ी घोड़ा-गाड़ी, भाप का इंजन, मोटर, रेल और अन्त में हवाई जहाज! मनुष्य कहां-से-कहां पहुँच गया। आज वह बहुत थोड़े समय में और बहुत थोड़े शब्दों में बहुत-कुछ जान लेना चाहता है। इसलिए उपन्यास के स्थान पर आज कहानी प्रिय है, बड़े नाटक छोटे होते जा रहे हैं। विज्ञान की उन्नति के कारण सिनेमा ने सारी रात के ड्रामे को अब दो घंटे के चलचित्र में पलट दिया है। इसलिए आज का नाटक अधिक संक्षिप्त और अधिक वास्तविक होता जा रहा है। इसलिए रंगमंच के संकेत पूरे ब्यौरे के साथ दिये जाते हैं।

व्यस्त जीवन और संक्षिप्तता से प्रेम के कारण ही इस युग में एकांकी की मांग बढ़ गई है। एकांकी का नाटक से प्रायः वही सम्बन्ध है जो कहानी का उपन्यास से है। जैसा कि हम शुरू में कह चुके हैं, आधुनिक एकांकी का जन्म कोई बीस साल से अधिक पुराना नहीं है, पर किसी-न-किसी रूप में वह संस्कृत काल से चला आता है। भारतेन्दु युग में भी कुछ एकांकी लिखे गये। स्वयं भारतेन्दु के अतिरिक्त राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र तथा हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ आदि इस युग के कुछ एकांकीकार हैं। इनके एकांकियों में केवल सम्वाद ही प्रमुख हैं, दूसरे नाट्य तत्वों का प्रायः अभाव है। इसलिए कुछ लोग प्रसाद के 'एक घूंट' को वास्तविक एकांकी मानते हैं। इस काल में इस कला पर पश्चिम का प्रभाव बंगला से होकर पड़ा है। प्रसाद के 'एक घूंट' के

सम्भाषणों पर रवि ठाकुर का प्रभाव है। उसमें कार्यगति का भी अभाव है। इसलिए आलोचक अब इस एकांकी को भी आधुनिक एकांकी का प्रथम नाटक मानने में संकोच करते हैं। सन् १९३५ में हिन्दी के नवयुवक कलाकार श्री भुवनेश्वर के एकांकी सामने आये। उनमें कला और कथावस्तु सब दृष्टि से नवीनता थी, पर वे पश्चिम से अत्यधिक प्रभावित थे। इनसे भी हिन्दी एकांकी को ठीक दिशा नहीं मिली। सन् १९३८ में 'हंस' का एकांकी-नाटक-अंक निकला, जिसने इस कला को एक निश्चित दिशा प्रदान की। इसी समय रेडियो के प्रचार और प्रसार के कारण छोटे नाटकों की मांग बढ़ी।

रेडियो नाटक और रंगमंच के नाटक अथवा एकांकी में निश्चित रूप से अन्तर है। रेडियो नाटक केवल ध्वनि पर अवलम्बित है। रंगमंच पर अभिनेता शरीर के हाव-भाव द्वारा दर्शक पर प्रभाव डाल सकता है; पर रेडियो के अभिनेता के पास तो केवल शब्द ही हैं। एक ग्रामीण व्यक्ति ने रेडियो नाटक को 'अन्धों का सिनेमा' कहा था। ये शब्द सुनने में भले ही अटपटे लगें, पर अर्थ उसके बहुत सही हैं। रेडियो नाटक एकांकी भी हो सकता है और छोटा नाटक भी। कुछ भी हो, इसके बाद तो एकांकी की प्रगति बड़ी सन्तोषजनक रही। उसके रूप में स्थिरता आई और नये-नये प्रयोगों ने उसे गति दी। आज के एकांकीकारों में सर्वश्री रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर, जगदीशचन्द्र माथुर, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', उदयशंकर भट्ट, गणेशप्रसाद द्विवेदी, सेठ गोविन्ददास, अज्ञेय, लक्ष्मीनारायण मिश्र, अमृतलाल नागर, प्रभाकर माचवे, भारतभूषण अग्रवाल, लक्ष्मीनारायण लाल, हरिश्चन्द्र खन्ना, सत्येन्द्र 'शरत', देवराज 'दिनेश' आदि कुछ प्रमुख नये-पुराने लेखकों के नाम लिये जा सकते हैं।

एकांकी के क्षेत्र में शैली और वस्तु की दृष्टि में इधर नये-नये प्रयोग बराबर हो रहे हैं। कुछ एकांकी ऐसे लिखे जाते हैं जिनमें केवल सम्वाद होता

है। ये केवल रेडियो पर ही खेले जा सकते हैं। कुछ नाटक केवल पढ़ने के लिए लिखे जाते हैं। इधर कुछ गीति-नाट्य भी लिखे गये हैं। श्री-सुमित्रानन्दन पन्त तथा श्री उदयशंकर भट्ट ने कई सुन्दर गीति-नाट्य लिखे हैं और रेडियो ने उन्हें प्रसारित किया है। कुछ गद्य सम्भाषण के साथ इपटा[1] ने ऐसे नाटक रंगमंच पर खेले भी हैं। यद्यपि पिछले दिनों नाटक में संगीत का स्थान कम होता जा रहा था तथापि इधर ऐसे गीति और नृत्य-नाटकों की मांग बढ़ रही है। संस्कृति की पुकार जैसे-जैसे बढ़ती जायगी वैसे-वैसे नृत्य और गीति नाटकों का प्रसार भी बढ़ता जायगा। रेडियो का माध्यम इस तरह के नाटकों के लिए विशेष उपयुक्त है।

रेडियो तथा सिनेमा का प्रचार व प्रसार निरन्तर बढ़ता जायगा और उसका प्रभाव दृश्य नाटक पर पड़े बिना न रहेगा। दृश्य नाटक ही नाटक का सबसे महत्वपूर्ण प्रकार है। यद्यपि हिन्दी में रंगमंच का अभी अभाव है, पर इपटा, पृथ्वीराज थियेटर तथा अनेक कालेज और क्लबों के रंगमंच की प्रगति इस बात का संकेत करती है कि भविष्य में हिन्दी-रंगमंच नई भावनाओं को लेकर आगे बढ़ेगा। उसमें दर्शक सुनता ही नहीं, देखता भी है। देखता तो सिनेमा में भी है; पर सिनेमा में व्यक्तिगत सम्पर्क का अभाव है।

रेडियो नाटक के अतिरिक्त आजकल हिन्दी में प्रतीकात्मक नाटक, प्रहसन, फैंटेसी और मोनोड्रामा की चर्चा भी है। मोनोड्रामा रेडियो के लिए विशेष उपयुक्त है। लेखक के कुछ मोनोलाग प्रसारित भी हुए हैं, परन्तु रेडियो पर सरकारी नियंत्रण होने के कारण इस कला का विकास स्वतंत्र रूप से नहीं हो सकेगा। सर्वश्री गोविन्दवल्लभ पंत तथा उदयशंकर भट्ट भाव-नाट्य की परम्परा को भी जीवित रखे हुए हैं।

नाट्य विधान की दृष्टि से एकांकी और कहानी में कोई अन्तर नहीं

[1] इण्डियन पीपल्ज थियेटर

है। उद्घाटन, विकास, चरमोत्कर्ष और अन्त—ये चारों भाग एकांकी के लिए भी माने जाते हैं; परन्तु हमारे विचार में किसी भी कला को नियमों में नहीं जकड़ा जा सकता है। हां, आधुनिक एकांकी का सबसे बड़ा गुण संकलन-त्रय है अर्थात्—समय, स्थान और कार्य-गति की एकता। आज का एकांकी उतने ही समय में खेला जा सकता है जितने में उसकी घटना वास्तविक जीवन में घटती है। घटनाओं के समय में भी अन्तर नहीं होता और न स्थान-परिवर्तन होता है, अर्थात् घटना एक ही स्थान और एक ही समय पर घटनी चाहिए। यह नहीं कि एक दृश्य आज का हो और दूसरा एक वर्ष बाद का, एक का स्थान दिल्ली हो और दूसरे का कलकत्ता।

श्री 'अश्क' के शब्दों में "सफल एकांकी में रंग-संकेत स्पष्ट, कार्य-गति क्षिप्र, अभिनय सुन्दर, सम्वाद चुस्त और चुटीले, चरित्र-चित्रण यथार्थ तथा मनोवैज्ञानिक और अवसर के अनुसार प्रकाश अथवा छाया का प्रयोग होना चाहिए।"

प्राचीन और नवीन एकांकी के कुछ प्रमुख अन्तर ये हैं—

(१) आज के एकांकी में जटिल नियमों की भरमार नहीं है। विज्ञान की प्रगति और खुली हवा में खेले जाने वाले नाटकों के प्रचार के कारण आज एकांकी में रंगमंच के विस्तृत संकेत दिए जाते हैं।

(२) आज के एकांकी में प्रस्तावना, मंगलाचरण और नान्दी की आवश्यकता नहीं है।

(३) आज के एकांकी में पात्रों व रसों का कोई बन्धन नहीं है। देवता और अलौकिक घटनाओं का इसमें कोई स्थान नहीं है।

(४) आज का एकांकी जीवन के अधिक समीप है। यथार्थता, मनोवैज्ञानिक सत्य और अन्तर्द्वन्द्व का उसमें पूरा समावेश है।

(५) आज का एकांकी मात्र राजा-महाराजाओं के मनोरंजन का साधन नहीं है। वह जनता का मनोरंजन करता है और मनोरंजन ही नहीं,

वह उसके जीवन के विकसित होने में भी पूरी सहायता करता है। व्यक्ति से अधिक वह समाज का है। खोखली विलासिता से अब उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

(६) आज का एकांकी संसार की सामाजिक और राजनैतिक उथल-पुथल के कारण समस्या-मूलक अधिक होता जा रहा है। लेकिन वादों की विभिन्नता और अस्थिरता के कारण वह प्रचारात्मक भी हो चला है। यह अस्वस्थता का लक्षण है; परन्तु साथ ही हमें यह विश्वास भी होता है कि जीवन के निकटतर होने के कारण वह साहित्य को नई दृष्टि दे सकेगा।

इस प्रकार आज एकांकी-साहित्य समूचे जन-जीवन को समेटता हुआ तीव्र गति से आगे बढ़ रहा है। रेडियो, सिनेमा और रंगमंच तीनों क्षेत्रों में उसकी प्रगति अक्षुण्ण है।

नाट्य कला सबसे बड़ी सामाजिक कला है। इसलिए इसका भविष्य किसी भी अवस्था में हो, उज्ज्वल है और यह भी निश्चित है कि समाज में जो भी परिवर्तन होंगे उनकी छाप सबसे पहले इस कला पर पड़ेगी।

जहां तक प्रस्तुत एकांकी-संग्रह का सम्बन्ध है, इस बात का विशेष ध्यान रक्खा गया है कि संग्रह सुन्दर एकांकियों के साथ-साथ हिन्दी के प्रतिष्ठित और प्रतिनिधि एकांकीकारों का प्रतिनिधित्व भी करे। विषय, शैली और विधान की दृष्टि से भी इसको प्रतिनिधि-संग्रह बनाने का प्रयत्न किया गया है। इस संग्रह की एक और विशेषता है। इसके सभी एकांकी संकलन-त्रय की कसौटी पर खरे उतरने वाले हैं।

हम उन सभी नाटककारों के प्रति आभार प्रकट करते हैं जिन्होंने कृपा कर अपनी अमूल्य रचनाओं को इस संग्रह में सम्मिलित करने की अनुमति दी। उनके सहयोग के बिना यह संग्रह इतना सुन्दर नहीं बन सकता था।

३३४६ पीपल महादेव,
पो० बा० ११६७, दिल्ली

—विष्णु प्रभाकर

विषय-सूची

रीढ़ की हड्डी

डा० रामकुमार वर्मा

नाटककार होने के साथ-साथ कवि और आलोचक भी हैं। हिन्दी-एकांकी के जन्मदाता माने जाते हैं। सर्व-प्रथम नाटक 'बादल की मृत्यु' है, जिसे सन् १९३० में लिखा था। आप मध्य-प्रदेश के निवासी हैं। सागर में १५ नवम्बर, १९०५ को आपका जन्म हुआ था। शिक्षा प्रयाग विश्वविद्यालय में हुई। वहीं आप प्राध्यापक हैं। आरम्भ से ही उस विश्वविद्यालय के रंगमंच से गहरा सम्बन्ध रहा है। इसी कारण आपके नाटक अभिनय-कला की दृष्टि से काफी सफल माने जाते हैं।

इधर जबसे रेडियो का प्रचार और प्रसार हुआ है तबसे आपके अनेक ध्वनि-नाटक प्रसारित हो चुके हैं। इस कला में भी पर्याप्त सफलता मिली है।

आप सर्व-प्रथम कवि हैं। इसलिए आपके नाटकों में कवित्व की प्रधानता है। आप सौन्दर्य के शिल्पी और मनोभावों के सूक्ष्म विश्लेषण-कर्त्ता हैं। ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों प्रकार के नाटक लिखते हैं। सामाजिक नाटकों में हास्य की हल्की-हल्की छाया बराबर रहती है। भाषा सरल, भाव प्रधान और मंजी हुई है। सम्वाद चुस्त हैं।

प्रतिशोध

●

पात्र-परिचय

भारवि : संस्कृत के महाकवि

श्रीधर : संस्कृत के महापण्डित, भारवि के पिता

सुशीला : भारवि की माता

भारती : एक विदुषी

आभा : सेविका

(श्रीधर ग्रंथ देखते हुए श्लोक पढ़ते हैं)

श्रीधर —ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

अर्थात्—जगत में जो कुछ स्थावर और जंगम है, वह सब ईश्वर के द्वारा आच्छादित है। तात्पर्य, संसार के क्रोड़ में भगवान की ही सत्ता है। तू नामरूपात्मक बाहरी विकारों के परित्याग से वास्तविक सत्ता जो ईश्वर की है, उसका स्वाद... तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा...(सुशीला की ओर) तुम ध्यान से नहीं सुन रही हो ?

सुशीला—(ध्यान-मग्नता से चौंककर) ऍंह, सुन तो रही हूँ, किन्तु भारवि...

श्रीधर —(बीच ही में) भारवि ! फिर भारवि ! भारवि के पीछे वेद छोड़ दो, उपनिषद् छोड़ दो, शास्त्र छोड़ दो। भारवि ही संसार में एक पुत्र है और तुम्हीं संसार में एक माता हो।

सुशीला—यह मैं नहीं कहती, किन्तु भारवि अभी तक नहीं आया !

श्रीधर —नहीं आया, तो आ जाएगा ! इस धारा नगरी में उसके आकर्षण के बहुत से केन्द्र हैं। कहीं बैठ गया होगा। कोई कविता का भाव खोजने लगा होगा। महाकवि जो बनता है। और तुम उसकी माता हो। तुम भी कविता का भाव खोजो न ! तुम तो अधिक अच्छा भाव खोज सकोगी। अच्छा, देखो ! यही भाव देखो, ईशावास्योपनिषद् के पहले ही श्लोक में 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा'...अर्थात् तू नामरूपात्मक बाहरी विकारों के परित्याग से वास्तविक सत्ता जो ईश्वर की है—

सुशीला—ईश्वर की सत्ता तो है; किन्तु भारवि नहीं आया ?

श्रीधर —नहीं आया तो जायेगा कहाँ !...शिव शिव ! फिर भारवि ! क्या कहूं सुशीला, भारवि तो उपनिषद् से भी बढ़कर हो गया है कि उसके चिंतन में उपनिषद् का भी चिंतन समाप्त हो गया। कोई चिन्ता नहीं। मैं कहता हूं, भारवि है कवि और कवि समय पर शासन करता है। समय उसपर शासन नहीं करता। दिवस और रात्रि के उज्ज्वल और श्याम रंगवाले समय के जो नेत्र हैं उनमें कवि दृष्टि बनकर विचरण करता है। वह घर और बाहर में अन्तर क्या समझता है ? वह समस्त संसार को अपने में देखता है और अपने में समस्त संसार को, कवि संसार में रहकर भी संसार से परे हो जाता है।

सुशीला—तो क्या भारवि कवि बनकर मेरा पुत्र नहीं रहा ?

श्रीधर —पुत्र तो है ही, किन्तु वह संसार का जनक भी है; जनक। अपनी कल्पना से वह न जाने कितने संसार के समूहों का निर्माण कर सकता है।

सुशीला—तो क्या कल्पना से वह अपनी माता का भी निर्माण कर सकता है ? और वह करे भी तो कर ले, किन्तु संसार में उसकी एक ही माता रहेगी, एक ही जननी रहेगी और वह मैं हूँ; मैं !

श्रीधर —हाँ, माता तो तुम्हीं हो। किसी दिन शास्त्रार्थ करके देख लेना।

सुशीला—शास्त्रार्थ के नियमों में माता का हृदय नहीं बांधा जा सकता। शास्त्र में सिद्धांत है, प्रेरणा नहीं है। शास्त्र में माता की प्रशस्ति है, किन्तु माता के हृदय का स्पन्दन नहीं है। शास्त्र तो तत्त्व की बात कहता है, उसे आँसुओं की तरलता और सुख की विह्वलता का अनुभव नहीं है।

श्रीधर —माँ के आँसुओं की तरलता और सुख की विह्वलता का अनुभव पुत्र करता है ?

सुशीला—अवश्य करता है। क्रिया की प्रतिक्रिया तो होती ही है।

श्रीधर —व्याकुल होगा, तो देख लूँगा उसकी व्याकुलता। तुम इस व्याकुलता से ऊपर उठो। शास्त्र का चिंतन करो।

सुशीला—आप भारवि के पिता हैं तो शास्त्र का चिंतन कर सकते हैं। मैं कैसे करूं ? आज दूसरा दिन है और वह नहीं आया। और दिनों तो वह जल्दी आ जाया करता था। आज दूसरी रात्रि का दूसरा प्रहर है और वह अभी तक नहीं आया। न जाने कहाँ होगा। उसने भोजन भी किया होगा या नहीं ?

श्रीधर —सुशीला, तुम व्यर्थ ही चिन्ता करती हो। भारवि कोई शिशु तो है नहीं, जिसे भोजन कराने के लिए माता के दुलार की आवश्यकता है। वह किसी गोष्ठी में बैठकर कविता का आनन्द ले रहा होगा, यहाँ माता चिन्तित हो रही है !

सुशीला—आप इतने निष्ठुर कैसे हैं ? क्या शास्त्र का चिंतन और पाण्डित्य मनुष्य को निष्ठुर बना देता है ? भूख-प्यास में भी कहीं कवि-गोष्ठी से रुचि हो सकती है ? मेरा भारवि कहीं अन्यत्र भोजन नहीं करता।

श्रीधर —भारवि...भारवि...भारवि ! न तुम शांत रहोगी, न मुझे शांत होने दोगी। भारवि मूर्ख है और तुम...

सुशीला—(बीच ही में) हाँ, मैं भी मूर्खा हूँ। यदि पुत्र के लिए माँ की ममता मूर्खता है, तो ऐसी मूर्खता सदैव ही मुझमें बनी रहे। आप पण्डित बनें, शास्त्री हों, विद्या के आचार्य हों। मेरे लाल को मूर्ख समझें और मुझे भी।

श्रीधर —सुशीला, अब तुम्हें कैसे समझाऊं ?

सुशीला—कहीं आप ही ने तो उसे घर आने से नहीं रोक दिया ?

श्रीधर —मैंने ?

सुशीला—हाँ, आपने !

श्रीधर —मैंने कभी रोका है ? कभी रोक सकता हूँ ?

सुशीला—पिता सब कुछ कर सकता है। वह उसे घर से निर्वासित कर सकता है, जाति से निर्वासित कर सकता है, समाज से निर्वासित कर सकता है।

श्रीधर —किन्तु हृदय से निर्वासित नहीं कर सकता।

सुशीला—हृदय से न सही; घर से तो निर्वासित कर ही सकता है।

श्रीधर —यदि वह अन्याय का आचरण करे, धर्म के प्रतिकूल चले, तो वह भी सम्भव है।

सुशीला—तो आपने ही उसे आने से रोक दिया है।

श्रीधर —मैंने रोका तो नहीं किन्तु यदि वह मेरी बात का उल्टा अर्थ लगाए, तो मैं क्या करूँ ?

सुशीला—तो आपने ही मेरे लाल से ऐसी बातें की हैं जो उसे कष्टकर हुई।

श्रीधर —यदि कष्टकर हों तो उसकी अपनी धारणा है।

सुशीला—तो आपने उसकी ताड़ना अवश्य की होगी।

श्रीधर —यदि पिता चाहता है कि उसका पुत्र सुमार्ग पर चले, तो कभी-कभी ताड़ना अनिवार्य हो जाती है।

सुशीला—तो आपने उसकी ताड़ना की है ?

श्रीधर —हाँ, मैंने की है।

सुशीला—इसीलिए वह नहीं आया ! मैं कारण जान सकती हूँ ?

श्रीधर —अवश्य। इधर मैंने देखा कि वह शास्त्रार्थ में अनेक पण्डितों को पराजित कर रहा है।

सुशीला—तो यह तो आपकी प्रसन्नता का विषय होना चाहिए।

श्रीधर —होना तो चाहिए किन्तु इधर मैंने देखा कि पण्डितों की हार से उसका अहंकार बढ़ता जा रहा है। उसे अपनी विद्वत्ता

का घमंड हो गया है। उसका गर्व सीमा का अतिक्रमण कर रहा है। यह मुझे सहन नहीं हो सकता।

सुशीला—तो क्या आप मेरे लाल से ईर्ष्या करते हैं?

श्रीधर —मूर्ख हो तुम भी। क्या पिता भी पुत्र से कभी ईर्ष्या कर सकता है? क्या बीजांकुर अपने पुष्प से कभी ईर्ष्या करेगा? किन्तु मैं यह सहन नहीं कर सकता कि मेरा पुत्र दंभी हो। मैं दंभी पुत्र का पिता होना अपमान समझता हूँ।

सुशीला—तो आपने उसे ताड़ना दी?

श्रीधर —हाँ, मैंने उसे ताड़ना दी। और उग्र रूप से दी।

सुशीला—क्या कहा आपने?

श्रीधर —मैंने कहा कि तू महामूर्ख है, दंभी है, अज्ञानी है।

सुशीला—यह आपने भारवि से एकांत में कहा या पण्डितों के सामने?

श्रीधर —पण्डितों के सामने। मुझे किसका संकोच है? पण्डितों के सामने ही मैंने अनुशासन किया।

सुशीला—पण्डितों के सामने ही? पण्डितों ने क्या कहा?

श्रीधर —कहेंगे क्या? वे भारवि की ओर देखकर हँसने लगे। भारवि के स्वर में ही बोलकर वे उसका परिहास करने लगे और ताली पीटने लगे।

सुशीला—और बेचारा भारवि?

श्रीधर —भारवि ने एक बार व्यथित दृष्टि से मेरी ओर देखा। फिर ग्लानि से अपने हाथों से अपना मुख छिपा लिया और चुपचाप एक ओर चला गया।

सुशीला—आपने रोका नहीं?

श्रीधर —नहीं, यदि रोकता तो अनुशासन की मर्यादा कैसे रहती?

सुशीला—मेरे लाल से अधिक प्रिय आपको अपने अनुशासन की मर्यादा थी।

श्रीधर —सुशीला! मोह में मत बहो। अनुशासन की मर्यादा पर बड़े

से-बड़े व्यक्ति का बलिदान किया जा सकता है ।

सुशीला—ओह, आपके क्रोध को देखते हुए वह अब फिर घर लौट कर नहीं आयगा। मेरा भारवि अब घर लौटकर नहीं आयगा। आपने अनुशासन की वेदी पर उसका बलिदान कर दिया।

श्रीधर —क्यों ? इससे पहले भी मैंने उसकी अनेक बार ताड़ना की है। फिर भी वह घर आया है, इस बार क्यों नहीं आयगा ?

सुशीला—उसे आना होता तो इस समय तक वह अवश्य आ जाता। कहीं वह ससुराल तो नहीं चला गया ?

श्रीधर —नहीं, वह मेरी आज्ञा के बिना उस ओर एक पग भी नहीं रख सकता।

सुशीला—तब कहीं उसने आत्महत्या...

श्रीधर —चुप सुशीला। वह शब्द अपने मुख से न निकालना। श्रीधर पण्डित का पुत्र इतना पतित नहीं हो सकता कि वह ऐसा जघन्य पाप करे ! वह अनियमित कार्यों से मुक्त है।

सुशीला—तब निश्चय ही वह देशान्तर चला गया।

श्रीधर —हाँ, देशान्तर जा सकता है किन्तु जिस श्रद्धा से वह तुम्हें सम्मान देता है उसे देखते हुए वह तुम्हारी आज्ञा के बिना देशान्तर नहीं जा सकता।

(किसी के आने की ध्वनि)

सुशीला—(उल्लास से) वह आया (पुकार कर) भारवि ! भारवि ! मेरे लाल।

श्रीधर —(पुकार कर) भारवि !

(सेविका का प्रवेश)

सेविका—नहीं, मैं हूं स्वामी, आभा।

सुशीला—आभा, भारवि नहीं आया !

तक कवि नहीं आये ? मैं तो समझती थी कि वे इस

समय तक आ गये होंगे।

सुशीला—वे अभी तक नहीं आये। तू जा, जल्दी से उन्हें खोज ला। जल्दी जा, मेरी अच्छी आभा!

आभा —मैं अभी जाती हूँ, स्वामिनि! अभी खोज कर लाऊँगी। किन्तु आप भोजन तो कर लें! मैंने पाकशाला में जाकर देखा, आपका भोजन सजा हुआ रक्खा है। आपने उसे छुआ भी नहीं है।

श्रीधर —तुमने भोजन नहीं किया, सुशीला?

सुशीला—अब लाल के साथ ही भोजन करूंगी। न जाने उसने कुछ खाया-पिया है या नहीं। उसे ग्लानि है। ग्लानि में उसने खाया-पिया क्या होगा? आभा, तू जा, कवि को अपने साथ ही ले आ!

आभा —मैं अभी जाती हूँ।

सुशीला—तू कहाँ जायगी। जानती है भारवि इस समय कहाँ होगा?

आभा —अतिथिशाला में होंगे। बाहर से आये हुए पण्डितों से वे प्रायः शास्त्रार्थ किया करते हैं। वहीं होंगे।

सुशीला—अब वह वहाँ न होगा।...वहाँ न होगा।

आभा —तब तो वे मालिनी-तट पर होंगे। वहाँ बैठकर वह अपनी कविताएँ लिखा करते हैं।

सुशीला—रात में? आभा, संभव है मालिनी-तट पर वह कुछ सोच रहा हो। नहीं, वहाँ भी वह न होगा। उसकी लेखनी मौन होगी।

आभा —तब जनपद में जाऊँगी।

श्रीधर —हाँ, अधिक-से-अधिक वह किसी जनपद में जा सकता है, किन्तु तू अभी न जा आभा! रात्रि अधिक हो गई है। मैं कल प्रातःकाल समस्त जनपदों में जाकर उसे खोज लाऊँगा।

आभा —स्वामी आज्ञा दें तो दो-एक जनपदों में अभी चली जाऊँ। स्वामी के प्रताप से मुझे मार्ग में कोई भय नहीं होगा।

श्रीधर —रात्रि में तू उसे खोज न सकेगी, आभा ! मैं ही जाऊँगा।

आभा —जो आज्ञा। स्वामिनी भोजन कर लें तो बड़ी कृपा हो।

सुशीला—आभा, तू जा। मैं भोजन न करूँगी। मुझे कष्ट न दें।

आभा —मुझे क्षमा करें। एक निवेदन और है—महाकवि से परिचित एक युवती प्रवेश चाहती है। वह स्वामी के दर्शन की अभिलाषा रखती है।

श्रीधर —मेरे दर्शन की ? मैं इस समय किसी से नहीं मिल सकूँगा।

सुशीला—आने दीजिए। संभव है, कवि से परिचित होने के कारण उससे लाल के सम्बन्ध में कुछ सूचना मिल सके ; आभा, बुला ले।

श्रीधर —अच्छा, भीतर भेज दे।

आभा —जो आज्ञा। (जाती है)

सुशीला—गई ! आभा कहती है कि मैं भोजन कर लूँ।

श्रीधर —सुशीला, मैं तुम्हारे हृदय के दुःख को समझता हूँ ! मैं निश्चय ही प्रातःकाल सभी जनपदों में जाऊंगा और भारवि को खोज कर तुम्हारे पास ले आऊँगा।

सुशीला—आपके अनुशासन की मर्यादा तो भंग न होगी !

श्रीधर —अनुशासन के स्थान पर अनुशासन और प्रेम के स्थान पर प्रेम है। प्रेम पर ही अनुशासन निर्धारित है और अनुशासन पर ही प्रेम। यदि प्रेम न हो तो अनुशासन का कोई मूल्य नहीं।

सुशीला—आपको विश्वास है कि भारवि किसी जनपद में मिल जायगा।

श्रीधर —मुझे विश्वास है कि जब वह अनियमित कार्यों से मुक्त है, तो किसी न किसी जनपद में अवश्य मिल जायगा।

सुशीला—यदि नहीं मिला तो...

श्रीधर —तो मैं राजकीय सहायता की प्रार्थना करूँगा। राजकीय शक्ति उसे कहीं से भी प्राप्त कर सकती है।

सुशीला—आप मुझपर महान् उपकार करेंगे।

श्रीधर —मोह के वशीभूत न बनो। तुमपर मेरा उपकार कैसा ? तुम

शांति से शयन करो। मैं कल प्रातःकाल भारवि सहित लौटूँगा।

सुशीला—परसों से गया है मेरा लाल, कौशेय वस्त्र धारण कर, पीत रंग का अधोवस्त्र और नील रंग का उत्तरीय! कुंचित केश! मस्तक पर पीत चन्दन की पत्रावलि, मध्य में अरुण-बिन्दु। शास्त्रार्थ के लिए जाते समय मैंने अपने हाथों से उसे पुष्पहार पहिनाया था। उसने मुझे प्रणाम किया था। स्नेह गद्‌गद् हो मैंने कहा—विजयी बनो। उसके मुख पर हलकी मुस्कराहट थी। क्या जानती थी कि आज भी उसे पिता की भर्त्सना मिलेगी।

श्रीधर —भावुक मत बनो, सुशीला। विश्राम करो। मैं तुम्हें वचन दे चुका हूँ कि तुम्हारा भारवि कल तुम्हारे पास होगा।

सुशीला—आज ही हो सकता था वह मेरे पास। यदि आप पुत्र-प्रेम से अधिक शास्त्र-चिन्तन को महत्व न देते।

श्रीधर —मैं समझता था कि वह सदा की भांति अवश्य घर लौट आयगा। मैंने भी थोड़ी मर्यादा रक्खी। किन्तु उस मर्यादा की सीमा समाप्त हो गई। कल मैं जाऊँगा। हम उसकी पत्नी के प्रति भी तो उत्तरदायी हैं और वह यहाँ नहीं है।

सुशीला—मेरे लिए न सही तो उसकी पत्नी के लिए ही आप कवि को खोज कर लायें।

(भारती का प्रवेश)

भारती —मैं आ सकती हूँ। प्रणाम करती हूँ। मेरा नाम भारती है।

सुशीला—भारती? आओ देवी! तुम कवि भारवि से परिचित हो?

भारती —वसन्त ऋतु में कोकिल के स्वर से कौन परिचित नहीं? प्रभात में भैरव राग के स्वर किसे जागरण का सन्देश नहीं देते? पूर्णिमा के आकाश में अमृत का कलश चंद्रमा, अंधकार के हृदय में भी प्रकाश की मंदाकिनी प्रवाहित कर देता है।

ऐसे ही हैं महाकवि भारवि । उन्हें कौन नहीं जानता ?

सुशीला—तुम उन्हें कब से जानती हो, देवी ?

भारती —गत पूर्णिमा के पर्व में उन्होंने जो शास्त्रार्थ किया था, उसमें शास्त्र को जैसे जीवन मिल गया । आज तक वेदान्त की इतनी सुन्दर मीमांसा मैंने नहीं सुनी जैसी महाकवि भारवि के मुख से सुनी ! जैसे ब्रह्म-ज्ञान सरस्वती की वीणा पर नृत्य कर रहा हो ।

सुशीला—धन्य है मेरा कवि !

श्रीधर —इस समय तुम्हारे आने का अभिप्राय क्या है, देवी भारती ।

भारती —महाकवि के दर्शन ! उनका सत्संग ज्ञान का सागर है जिसके तट पर बैठ कर मैं अनुभूति की लहरें गिन सकती हूँ ।

श्रीधर —लेकिन भारवि यहाँ नहीं है ।

सुशीला—हाँ, कवि अभी तक नहीं आया ।

भारती —मैंने तो उन्हें मालिनी-तट पर देखा था । सोचती थी कि इस समय तक वे यहाँ आ गये होंगे ।

सुशीला—कब देखा था ? किस समय देखा था देवी ?

भारती —आज प्रातःकाल उषा बेला में ।

सुशीला—तुम उससे मिली थीं ?

भारती —नहीं ! वे उस समय ध्यान-मग्न थे । ज्ञात होता था जैसे वे भारती की उपासना कर रहे हों ।

सुशीला—भारती की ?

भारती —(हँस कर) मेरी नहीं । वीणापाणि भारती को, सरस्वती की । मैंने उनका ध्यान भंग नहीं करना चाहा । सोचा बाद में उनसे वार्तालाप करूँगी ।

सुशीला—फिर वार्तालाप किया ?

भारती —नहीं, वे उद्विग्नता से उठकर एक ओर चले गये । मैं उन्हें पा न सकी ।

सुशीला—उसके बाद पता पाया कि वह कहाँ गया।

भारती—नहीं, फिर मैं न जान सकी कि वे कहाँ गये।

सुशीला—वह तब से आया भी नहीं। उसके पिता भी तब से उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

भारती—ये उनके पिता हैं! प्रणाम करती हूँ।

सुशीला—आयुष्मती बनो। देवी भारती! भारवि जैसे ही आयगा तुम्हारे आने की सूचना दे दी जायेगी।

भारती—मैं कृतार्थ हुई। किन्तु आप कष्ट न करें। कल प्रातःकाल मैं पुनः सेवा में उपस्थित हो जाऊँगी।

सुशीला—यदि इस बीच तुम्हें उसकी सूचना मिले देवी, तो मुझे सूचना देना। मैं कृतार्थ होऊँगी।

भारती—अवश्य! तो मुझे आज्ञा दें। प्रणाम करती हूँ।

सुशीला—आयुष्मती बनो!

(प्रस्थान)

सुशीला—देवी भारती से भी मेरे लाल की कोई सूचना नहीं मिली।

श्रीधर—अच्छा, अब तुम विश्राम करो, शांत मन से, स्थिर चित्त से।

सुशीला—विश्राम! स्थिर-चित्त! (व्यंग्य की दबी हंसी) माँ के लिए विश्राम और स्थिर-चित्त, जब उसका पुत्र उसके पास नहीं है। आप विश्राम करें, शास्त्र-चिंतन समाप्त करें।

श्रीधर—मैं भी उठता हूँ। तुम शैया पर जाओ; बहुत देर से आसन पर बैठी हो। पैर में शून्यता हो जायगी। कल जब भारवि आयगा, तो उठ भी न सकोगी।

सुशीला—उठ भी न सकूँगी। आप शयन करें, मैं अपनी शैया पर चली जाऊँगी।

श्रीधर—उठो, मैं सहायता दे दूँ। स्थिर-चित्त से शयन करो। उठो, मैं वचन देता हूँ कि कल भारवि को अपने साथ ही ले आऊँगा।

सुशीला—आप मेरे जीवन का सबसे बड़ा कार्य करेंगे। चलिये।

(सुशीला उठकर अपनी शय्या पर जाती है।)

श्रीधर —अब ठीक है। मैं दीपक मन्द कर देता हूँ। यह लो, अब इस शैया पर शयन करो। मैं भी शयन करते हुए सोचूँगा कि सबसे पहले कहाँ जाऊँ !

सुशीला—वह अपनी ग्लानि में कहीं दूर चला गया होगा।

श्रीधर —चाहे जितनी दूर चला जाय। मैं तो उसे लाऊँगा ही।

सुशीला—लाइए, अवश्य लाइए। उसके बिना मैं जी न सकूँगी। पूर्णिमा के चन्द्र की तरह वह मेरा एक ही लाल है। महाकवि, महा-पण्डित, भारवि !

श्रीधर —(नेत्र बन्द किये चिंतित मुद्रा में)—हूँ ! (कुछ शांति) शयन करो।

(कुछ देर तक स्तब्धता)

सुशीला—(कुछ क्षण बाद) मुझे नींद नहीं आ रही है। मन न जाने क्या-क्या सोचता है।

श्रीधर —अपना मन स्थिर करो। (कुछ शांति) ऊपर देखो, आकाश में कितने तारे हैं—ये एक दूसरे से कितनी दूर हैं किन्तु इनमें से कोई चिंतत नहीं है। सभी समान रूप से चमक रहे हैं।

सुशीला—इन तारों में कोई माता न होगी।

श्रीधर —अपने मन को कल्पना से मुक्त करो। सुशीला, ईश्वर की शक्ति में विश्वास रक्खो। बीज से फूल कितनी दूर रहता है किन्तु बीज कभी मलीन नहीं होता। वह फूल को प्रफुल्लित रखने के लिए निरन्तर रस भेजा ही करता है। तुम भी मंगल-कामना करो कि जहाँ भी तुम्हारा पुत्र हो सुखी रहे, प्रफुल्लित रहे !

सुशीला—मेरा पुत्र जहाँ भी रहे, सुखी रहे, प्रफुल्लित रहे।

श्रीधर —हाँ, ईश्वर की शक्ति कण-कण में वर्तमान है, वह सयक

पोषण करता है, उसपर विश्वास रक्खो।

सुशीला—मैं विश्वास रखती हूँ।

श्रीधर —अब सो जाओ। विश्वात्मा का ध्यान करते हुए। मैं वही श्लोक पढ़ता हूँ। मेरे स्वर में अपना स्वर धीरे-धीरे मिलाकर शयन करो...(श्रीधर धीरे-धीरे श्लोक पढ़ते हैं और सुशीला उनके स्वर में स्वर मिलाती है।)

ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्
त्येन त्यक्तेन भुञ्जीथा...(कुछ खटका होता है)

सुशीला—(चौंक कर) यह खटका कैसा ! क्या मेरा भारवि आ गया।

श्रीधर —अरे, यह तो हवा का झोंका है जिससे द्वार पर शब्द हुआ है। तुम व्यर्थ ही इतनी व्यग्र हो, सुशीला। शान्त रहो।

सुशीला—मैं शान्त हूँ। शब्द से मुझे भ्रम हुआ कि मेरा कवि आ गया। वह भी आते समय द्वार पर ऐसा ही शब्द करता था।

श्रीधर —तुम्हारा भारवि कल अवश्य आ जायगा। तुम शान्त हो। देखो प्रकृति भी शान्त है।

सुशीला—मैं शान्त कैसे रहूँ, चुप अवश्य हो जाऊँगी, किन्तु शान्ति में भी जुगनू को देखो जो अपने जीवन का प्रकाश लिये हुए चारों ओर उड़ रहा है—शायद इसका भी लाल कहीं खो गया है। कीट-पतंग तक अपने लाल को खोज सकते हैं; मैं अपने जीवन का प्रकाश लिये हुए शान्त रहूँ, चुप रहूँ। हाय रे मनुष्य ! तू कीट-पतङ्गों से भी गया बीता है।

श्रीधर —सुशीला, मैं बहुत दुखी हूं तुम्हें देखकर। यदि तुम इतनी अशान्त हो, तो मैं अभी ही तुम्हारे पुत्र को खोजने के लिए जाता हूँ।

सुशीला—अन्धकार में वह कहां मिलेगा ? प्रातःकाल जाइये। किन्तु मेरी प्रार्थना है कि अब आप मेरे लाल की निन्दा करना छोड़

दें। आप सबके सामने उसे मूर्ख और विकल-बुद्धि बतलाया करते हैं इससे उसे मर्मान्तक कष्ट होता है। वह पण्डित है, बुद्धिमान् है, अब से ऐसा न करें।

श्रीधर —सुशीला, मैं आज तुम्हें एक बात बतलाऊँ?

सुशीला—मेरे लाल के सम्बन्ध में?

श्रीधर —हां, भारवि के सम्बन्ध में। बात यह है कि मेरा लाल आज संसार का एक श्रेष्ठ महाकवि है। दूर-दूर के देशों में उसकी समानता करने का किसी में साहस नहीं है। वह शास्त्रार्थ में बड़े-से-बड़े पण्डितों को पराजित कर चुका है। उसका पाण्डित्य देखकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता होती है। किन्तु मेरे भारवि के मन में धीरे-धीरे अहङ्कार स्थान पाता जा रहा है। मैं चाहता हूँ कि भारवि और भी अधिक पण्डित और महाकवि बने। पर अहङ्कार उन्नति में बाधक है। मैं उस अहङ्कार पर अंकुश रखना चाहता हूँ। जिसे अपने पाण्डित्य का अभिमान हो जाता है वह अधिक उन्नति नहीं कर सकता। यही कारण है कि मैं समय-समय पर उसे मूर्ख और अज्ञानी कहता हूँ। प्रशंसा तो सभी करते हैं किंतु अधिकारी से निन्दा भी होनी चाहिए। मैं नहीं चाहता कि अहङ्कार के कारण मेरे पुत्र की उन्नति रुक जाय।

सुशीला—(विह्वल होकर) क्या कहा आपने?

श्रीधर —मैं नहीं चाहता कि अहङ्कार के कारण मेरे पुत्र की उन्नति रुक जाय।

सुशीला—तो जो आप मेरे लाल पर क्रोध प्रकट करते हैं वह सच्चा नहीं है?

श्रीधर —अणुमात्र भी नहीं। इस क्रोध में पुत्र के प्रति मङ्गल-कामना छिपी है। मेरा पुत्र और भी विद्वान् हो, और भी यशस्वी बने।

सुशीला—ओह, आप कितने महान् हैं?

(यकायक दरवाजा खोलने की तीखी आवाज होती है। भारवि हाथ में तलवार लिए लड़खड़ाते हुये आते हैं।)

भारवि —पिता, पिता !

सुशीला }
श्रीधर } —(सम्मिलित स्वर में) भारवि।

भारवि —हाँ मैं भारवि हूँ।

सुशीला—(विह्वल होकर) बेटा तू कहाँ रहा ? मेरे बेटे, तू इतना निष्ठुर कैसे हो गया ? तू कहाँ था ? तेरी इतनी...तेरी इतनी...तू क्यों चला गया था ? कहां था, मेरे बेटे ? (सिसकने लगती है।)

भारवि —माँ, शान्त रहो। अपने चित्त को स्थिर रक्खो।

सुशीला—तेरे पिता भी कहते हैं अपने चित्त को स्थिर रक्खो, तू भी यही कहता है। मैं कहां ले जाऊँ अपने चित्त को ? प्रभु, इस संसार में मां के चित्त को स्थिर क्यों नहीं बनाया ?

भारवि —माँ, मैं यह कहता हूँ—

सुशीला—बेटा, अब मैं कोई बात नहीं मानूँगी, तू बतला कि तूने अभी तक कुछ खाया या नहीं ? मैं दो दिनों से तेरा भोजन लिये बैठी हूँ।

भारवि—मैं इतनी ग्लानि में हूँ मां, कि सम्भवतः मुझे जीवन भर भूख न लगे।

सुशीला—तो तूने अभी तक कुछ नहीं खाया।

भारवि —नहीं, माँ।

सुशीला—ओह, मेरा लाल, दो दिन का भूखा है। मैं अभी भोजन लाऊँगी। मैं अभी लाऊँगी (नेपथ्य में पुकारती हुई जाती है।) आभा, आभा ! कवि आ गया, उसने अभी तक भोजन नहीं किया। कहाँ है, कहाँ है उसका भोजन...भोजन...

भारवि —पिता, मैं आपका पुत्र होने योग्य नहीं हूँ। इस तलवार से

मेरा मस्तक काट दीजिए।

श्रीधर —वत्स, तुम्हारे मुख में ये शब्द शोभा नहीं देते। अपनी मर्यादा सुरक्षित रक्खो। मैं फिर कहता हूँ कि तुम मूर्ख हो। विकल-बुद्धि हो।

भारवि —सचमुच ही मैं मूर्ख हूँ। विकल-बुद्धि हूँ। और यह तभी प्रमाणित होगा जब आप मेरा मस्तक तलवार से काट देंगे।

श्रीधर —मेरे वाक्यों का प्रमाण तलवार के प्रमाण की आवश्यकता नहीं रखता। तलवार का प्रमाण निर्बलों का प्रमाण है। निर्भीक वाक्य सबलों का प्रमाण है।

भारवि —किन्तु पिता, यह तलवार मेरा मस्तक नहीं काटेगी, उस ग्लानि को काट देगी, जो पिछले दो क्षणों में मेरे जीवन को झंझा की भाँति झकझोर रही है।

श्रीधर —ग्लानि से जीवन उत्पन्न नहीं होता, वत्स ! जीवन से ग्लानि उत्पन्न होती है और इस तरह ग्लानि प्रधान नहीं है, जीवन प्रधान है। जब तुम जीवन के अधिकारी हो तो जीवन की शक्ति से ही ग्लानि को दूर करो, तलवार की अपेक्षा क्यों करते हो ? और हाँ, तुम तो महाकवि हो ! तुम्हारे हाथों में लेखनी चाहिए, तलवार नहीं। यह तलवार कैसी ?

भारवि —पिता, मैं महाकवि नहीं हूँ, तभी तो हाथों में लेखनी नहीं है, तलवार है। जीवन का स्वामी नहीं हूँ, तभी तो ग्लानि का मुझपर अधिकार है।

श्रीधर —ग्लानि काला बादल है, वत्स ! जो जीवन के चन्द्र को मिटा नहीं सकता। कुछ क्षणों के लिए उसके प्रकाश को रोक ही सकता है। उत्साह के प्रवाह से बादल को हटा दो।

भारवि —वह रक्त के प्रवाह से ही हटेगा, पिता ! और वह रक्त मेरे मस्तक का होगा।

श्रीधर —मस्तक में सहस्र दल हैं वत्स, जिसमें ब्रह्म का निवास होता है।

ग्लानि के पोषण के लिए ब्रह्मद्रव की आवश्यकता नहीं है। किन्तु मैं यह पूछता हूँ कि इस मूर्खता के धूमकेतु की रेखा कितनी लम्बी जायगी ? मैंने तुम्हारे दोष दिखलाए तो उन्हें स्वीकार करना चाहिए था। यह नहीं कि ग्लानि से दो दिन घर आने का नाम भी न लो ! बेचारी मां को दुखी और चिंतित रक्खो ! उसने तुम्हारे वियोग में दो दिन से भोजन नहीं किया। अब आधी रात में तुम आये हो, तुम्हारे हाथ में यह तलवार है और पिता से तुम अपना मस्तक काटने को कहते हो। मूर्ख पुत्र ! मेरे हृदय में पिता की भावना आज तुमसे लांछित हो रही है।

भारवि —पिता, यह सब स्वीकार करता हूँ। आपसे विवाद करना मुझे और कष्टप्रद होगा। किन्तु मैं अपनी निर्बलता आपके सामने प्रकट करना चाहता हूँ। पिछले दो दिनों का कार्य प्रतिशोध से परिचालित था।

श्रीधर —प्रतिशोध !

भारवि —हां पिता, प्रतिशोध ! आपने मुझे लांछित किया। जब मैं शास्त्रार्थ में विजयी हुआ, आपने मुझे सार्वजनिक रूप से लांछित किया। जिन पण्डितों को मैं पराजित करता था, वे ही आपके वाक्यों को लेकर मेरा परिहास करते थे—सभाओं में लांछित करते थे। दो बार जब आपने सब पण्डितों के सामने मेरी निन्दा की तो मैं क्रोध और ग्लानि से भर गया। मैं घर नहीं लौट सका। मेरी सारी विजय की उमङ्ग रसातल में चली गई। मैंने समझ लिया कि जबतक मेरे पिता वर्तमान हैं तबतक मैं इसी प्रकार लांछित होता रहूँगा।

श्रीधर —यह सत्य है।

भारवि —मैं आत्म-हत्या नहीं कर सकता था क्योंकि वह एक जघन्य पाप है। मैंने अनेक बार सोचा। पिता को तो पुत्र की उन्नति से

सुख होना चाहिए, किन्तु पिता को मेरी उन्नति से अप्रसन्नता होती है; पिता को मेरे दोष-ही-दोष दीख पड़ते हैं। वे मुझे लांछित करते हैं। एकांत में लाँछित करते तो मुझे कोई हानि न होती; किन्तु विद्वन्मण्डली में वे मेरा अपमान करते हैं।

श्रीधर —मेरा अभिप्राय विद्वन्मण्डली में ही तुम्हारे दोष दिखलाने का रहा है।

भारवि —जिन पण्डितों ने मेरे ज्ञान को अपने सिर पर पुष्प-माला की भाँति धारण किया, उन्हीं पण्डितों के समक्ष मेरा अपमान मुझे शूल की भांति खटक गया और आपके प्रति मेरा क्रोध अन्तिम सीमा तक पहुँच गया।

श्रीधर —(मुस्करा कर) अंतिम सीमा तक। फिर तुमने क्या किया?

भारवि —मैं पूरे आठ प्रहर तक मन-ही-मन जलता रहा। फिर मैंने यही ठीक समझा कि मैं पिता के जीवन को समाप्त कर दूँ।

श्रीधर —हाँ,....पिता के?....कितना अच्छा होता कि मुझे अपनी मृत्यु पुत्र के हाथों मिलती!

भारवि —मैंने अपने मित्र विजयघोष के शस्त्रागार से यह पैनी तलवार चुनी,जिसकी तीखी धार के स्पर्शमात्र से जीवन का सूक्ष्म तन्तु बिना किसी शब्द के क्षणमात्र में ही कट जाता। मैं संध्या से ही इस घर के कोने में छिपा हुआ था। जब आधी रात में माताजी और आप निद्रा में लीन रहते तो मैं दबे पांव आकर आपकी ग्रीवा पर यह तलवार रख देता। माताजी को भी ज्ञात न होता कि वे जीवन की किस दिशा में चली गई हैं। प्रातःकाल जब उन्हें ज्ञात होता और नगर में यह बात फैलती तो मैं भी आता। मेरा प्रायश्चित्त यह होता कि जीवन भर माता की कठिन सेवा कर उन्हें वैधव्य के कष्ट का अनुभव न होने देता।

श्रीधर —फिर तुमने क्यों नहीं किया? यह कार्य तो तुम अब भी

कर सकते हो !

भारवि —पिता ! मुझे और अधिक लांछित न कीजिए। मेरी ग्लानि को अधिक न बढ़ाइए। हाय रे, माता का हृदय, वे क्षण मात्र भी न सो सकीं...। आपको छेड़ती रहीं। उन्होंने आपको सोने न दिया और जब बातों-ही-बातों में मुझे यह ज्ञान हुआ कि आपकी—आपकी यह पुत्रवत्सलता ही है कि आप पण्डितों के बीच मेरी निंदा कर मेरे गर्वांकुर को नष्ट करते हैं; मेरे अहङ्कार को दूर कर मेरी अधिकाधिक उन्नति चाहते हैं तो मुझपर वज्रपात हुआ। मेरा सारा क्रोध पानी बनकर मेरी आंखों से अश्रु-धारा के रूप में निकल पड़ा। ओह पिता, आप कितने महान् हैं ! प्रतिदिन मेरी उन्नति के अभिलाषी ! मेरे अहङ्कार को दूर कर मुझे साधना के पथ पर बढ़ाने वाले पिता ! मैं पापी हूं। पितृ-हत्या से प्रतिशोध लेने वाला यह नारकीय पुत्र आज प्रायश्चित्त-रूप में अपना मस्तक कटवाने की भिक्षा मांगता है। (एक सिसकी)

श्रीधर —शान्त, शान्त ! किन्तु न तो मैं प्रतिशोध लेता हूं और न भिक्षा देता हूं।

भारवि —फिर भी मैं दण्ड चाहता हूं।

श्रीधर —किन्तु. मूर्ख, पितृ-हत्या का दण्ड पुत्र-हत्या नहीं है।

भारवि —फिर भी शास्त्र की आज्ञानुसार जो दण्ड हो, वही दीजिए।

श्रीधर —किन्तु मैंने तुम्हें क्षमा किया वत्स ! दण्ड की व्यवस्था पाप के स्थिर रहने में है। जब यह पाप स्थिर नहीं रह सका तब दण्ड को आगे बढ़ने की आवश्यकता नहीं है।

भारवि —आपसे शास्त्रार्थ करना मेरी अल्पज्ञता है, पिता ! पाप के लिए न सही, मेरे प्रायश्चित्त के लिए भी तो कुछ व्यवस्था होनी चाहिए।

श्रीधर —तेरे लिए पश्चात्ताप ही प्रायश्चित्त है।

भारवि —आप महान् हैं, पिता! किन्तु जबतक आप प्रायश्चित्त की व्यवस्था मेरे लिए न करेंगे तबतक मेरे जीवन में एक ऐसी आग लगी रहेगी जिसका बुझाना मेरे लिए असम्भव होगा। पिता अपनी पुत्र-वत्सलता में अडिग रहे और पुत्र पितृ-हत्या का निश्चय कर भी अदण्डित रहे? मेरे लिए यह क्षमा असह्य होगी।

श्रीधर —माता की सेवा कर असह्य को सह्य बनाओ।

भारवि —पिता, माता की सेवा तो मेरे जीवन की चरम साधना है ही; किन्तु यदि आप चाहते हैं कि आपका भारवि जीवित रहे तो उसे दण्ड दीजिए।

श्रीधर —पुत्र, यदि जीवन को दण्ड समझ ले तो क्या हानि है?

भारवि —पिता, मैं जीवन को दण्ड नहीं समझना चाहता। यह ब्रह्म की विभूति है। इसे चिन्ता में घुलाना, पाप में लपेटना, दुख में बिलखाना सबसे बड़ा अपराध है। इससे तो अच्छा है कि मैं आपकी अनुमति से दण्ड-स्वरूप आत्महत्या-जैसे जघन्य पाप...

श्रीधर —(बीच ही) भारवि!

भारवि —पिता! मेरे मन की शान्ति के लिए आप शास्त्रानुसार दण्ड की व्यवस्था दें।

श्रीधर —छः मास तक श्वसुरालय में जाकर सेवा करना और जूठे भोजन पर अपना पोषण करना।

भारवि —छः मास तक श्वसुरालय में जाकर सेवा करना और जूठे भोजन पर अपना पोषण करना। बस ठीक, आज से मेरा यह प्रायश्चित्त प्रारम्भ हुआ। यह लीजिए तलवार (फेंक देता है।) इसे आप कृपया मेरे मित्र विजयघोष के पास पहुंचा दीजिए और मुझे इस प्रायश्चित्त की पूर्ति की आज्ञा दीजिए।

श्रीधर —किन्तु यह प्रायश्चित्त इसी क्षण से क्यों प्रारम्भ हो?

(नेपथ्य में 'बेटा, यह गरम-गरम भोजन जल्दी से कर ले, (धीरे-धीरे पास आती हुई) तू बहुत भूखा होगा। जल्दी से भोजन कर ले।)

सुशीला—(पास आकर) ला, तुझे मैं अपने हाथों से खिलाऊं।

भारवि —नहीं, माँ ! मुझे जूठा भोजन चाहिए।

सुशीला—(आश्चर्य से)—जूठा भोजन !

भारवि —हाँ माँ, आज से छः मास तक जूठा भोजन ही मेरा खाना है।

सुशीला—(आश्चर्य से)—छः महीने ?

भारवि —तूने भी तो भोजन नहीं किया है।

सुशीला—बेटा, तू खा ले ! मेरी आत्मा को तृप्ति हो जायगी। मैं जी जाऊँगी।

भारवि —नहीं, पहले मैं अपने हाथों से तुझे एक ग्रास खिला दूँ।

सुशीला—पहले तू खा ले।

भारवि —नहीं माँ, मेरी प्रार्थना मान ले। मैं तुझे खिला दूँ।

सुशीला—(ग्रास लेकर) धन्य मेरे लाल, अब तू खा ले।

भारवि —नहीं माँ, मुझे क्षमा कर। छः महीने बाद तुम्हारे इन हाथों से भोजन करूँगा।

सुशीला—छः महीने बाद ! यह बात क्या है ? देखिये, (श्रीधर की ओर) यह छः महीनों की बात कैसी !

श्रीधर —(गम्भीर स्वर में)—यह उसका प्रायश्चित्त है।

सुशीला—प्रायश्चित्त ! कैसा प्रायश्चित्त ?

भारवि —यह पिताजी स्पष्ट करेंगे। अब मुझे देर हो रही है। पिताजी, आज्ञा दें। माता, आज्ञा दीजिए—आप दोनों के चरणों की धूल सिर पर रख लूँ। अब मैं अपने आपसे प्रतिशोध लूँगा। माता, प्रणाम। पिता, प्रणाम !

सुशीला—भारवि, मेरे लाल !

श्रीधर —गया भारवि।

सुशीला—मेरे लाल, लौट आओ !....

(नेपथ्य में भारवि का स्वर—प्रतिशोध ! प्रतिशोध !)

श्री उदयशंकर भट्ट

आपका जन्म सन् १८९७ में इटावा में हुआ। कई प्रान्तों में शिक्षा प्राप्त करने के बाद लाहौर चले गये। वहीं आप बँटवारे के पूर्व तक अध्यापन का कार्य करते थे। उसके बाद दिल्ली चले आये। तब-से आल इण्डिया रेडियो के दिल्ली स्टेशन पर काम कर रहे हैं। इस समय आप सलाहकार के पद पर हैं।

आप केवल नाटककार नहीं हैं, बल्कि कवि, आलोचक और उपन्यासकार भी हैं। सबसे पहला एकांकी 'दस हजार' १९३८ में प्रकाशित हुआ था। तबसे अनेक सुन्दर नाटकों और एकांकियों की रचना कर चुके हैं और कर रहे हैं।

डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में—"(आपके) एकांकियों में मनोभाव बड़ी सरलता से स्पष्ट हो जाते हैं। पात्रों के अनुरूप भाषा की सृष्टि में तो सिद्धहस्त हैं। घटनाओं में कौतूहल चाहे न हो; किन्तु स्वाभाविकता के साथ जीवन के चित्रों को स्पष्ट करने में भट्टजी ने विशेष सफलता प्राप्त की है।"

आपको विशेष सफलता गीति और भाव-नाटक लिखने में मिली है। रेडियो-विधान के अनुकूल भी आपने अनेक नाटक लिखे हैं। मूलतः कवि होने के कारण आपकी नाट्य-कला में कल्पना और यथार्थ का सुन्दर समन्वय हुआ है।

बीमार का इलाज

●

पात्र-परिचय

चन्द्रकांत : आगरे का एक रईस, जो अंग्रेजी सभ्यता व रहन-सहन का प्रेमी है। एकदम भारी-भरकम, उम्र ४५ वर्ष।

कांति : चन्द्रकांत का बड़ा पुत्र। उम्र लगभग २१-२२ वर्ष।

विनोद : कांति का समवयस्क मित्र।

शांति : कांति का छोटा भाई।

सरस्वती : कांति की माँ, अपने पति से सर्वथा भिन्न, दुबली-पतली, पुराने विचारों की।

प्रतिमा : कांति की बहन—एकदम मोटी, उम्र २४ वर्ष।

डा० गुप्ता, डा० नानकचन्द, वैद्य हरिचन्द, बूढ़ा और सुखिया, पण्डित, पुजारी इत्यादि।

(आगरे में कांति के पिता मि० चन्द्रकांत की कोठी का एक कमरा। कमरे की सजावट एक सम्पन्न परिवार के अनुरूप—सोफा सेट, कुर्सियाँ, तिपाई इत्यादि सभी वस्तुएं मौजूद हैं—पर नौकर पर निर्भर रहने तथा रूढ़िवादी गृह-स्वामिनी के कारण स्वच्छता, सलीके का अभाव; दरी पर बिछी हुई चादर काफी मैली है। जिस समय का यह दृश्य दिखाया जा रहा है, उस समय सवेरे के आठ बजे हैं। कांति का मित्र विनोद बिस्तर पर लेटा है। उसे अचानक रात में ज्वर हो गया, लगभग १०४ डिग्री। कड़ी काठी होने के कारण वह लापरवाही से कभी उठकर बैठ जाता है और कभी उठकर टहलने लगता है। वह अपने भीतर से यह विचार निकाल देना चाहता है कि उसे ज्वर है, फिर भी ज्वर की तेजी उसे बेचैन कर देती है और वह लेट जाता है। कुछ देर बाद कांति 'नाइट ड्रस' में कन्धे पर तौलिया डाले चपलियाँ फटफटाता, सीटी बजाता बायें दरवाजे से कमरे में आता है।)

कांति —हलो विनोद, अमा अभी तक चारपाई से चिपटे हो—आठ बज रहे हैं। क्या भूल गए, आज गांव जाना है? मैं तो स्वयं देर से उठा, वरना मुझे कबतक तैयार हो जाना चाहिए था। लेकिन तुमने तो कुम्भकर्ण के चाचा को भी मात कर दिया, यार! (पास जाकर) क्या बात है? खैर तो है?

विनोद —रात न जाने क्यों बुखार हो गया (हाथ फैलाकर) देखो?

कांति —(देह छूकर) ओह, सारी देह अंगारे की तरह दहक रही है।

विनोद —कम्बख्त बुखार कैसे आ धमका?

कांति —यार, इस बुखार ने तो सारा मजा किरकिरा कर दिया। इलाहबाद से मैं तुम्हें कितने आग्रह से छुट्टियाँ बिताने के लिए यहां आगरे लाया था—सोचा था, कुछ दिन यहां घर में आनन्द-मौज करेंगे और फिर खूब गांव की सैर करेंगे।

विनोद —मालूम होता है, मेरे भाग्य में गांव की सैर नहीं लिखी है। ये छुट्टियां बेकार ही गईं।

कांति —गांव का रास्ता बड़ा ऊबड़-खाबड़ है। इस दशा में तुम्हारा गांव जाना असम्भव है। सोचता हूँ, मैं भी न जाऊँ, पर जाये बिना काम भी तो नहीं चलेगा। कल चाचाजी शायद मुकदमे के लिए बाहर चले जायेंगे; न जाने कबतक लौटें। कहो तो मैं अकेला ही हो आऊँ—इफ यू डोण्ट माइण्ड !

विनोद —नहीं, नहीं, तुम हो आओ। उन्होंने आग्रह करके बुलाया है, हो आओ। मैं ठीक हो जाऊँगा। कोई बात नहीं।

कांति —तुम्हें कोई तकलीफ न होगी। डाक्टर आ जायगा। पिता-माता सभी तो हैं। मैं शाम को लौटने का यत्न करूँगा।

विनोद —नहीं, नहीं, मामूली बुखार है, ठीक हो जायगा। जाओ।

(कांति के पिता चन्द्रकांत का प्रवेश)

चन्द्रकांत—(दूर से) किसको बुखार है, बेटा कांति ? अरे इतनी देर हो गई, तुम अभी तक गांव नहीं गये। धूप हो जायगी। धूप, धूल और धुआं इनमें तीन न सही, दो ही आदमी के प्राण निकालने को काफी हैं। उसपर घोडे की सवारी—न कूदते बने न सीधे बैठते। बुखार किसे हो गया बेटा ?

कांति —बाबूजी, विनोद को रात बुखार हो गया। देह तवे की तरह गरम है। डाक्टर को बुलाना है। ऐसे में इसका जाना ?

चन्द्रकांत—हैं, हैं, विनोद कैसे जा सकता है ? और फीवर, जंगल में आग की तरह उद्दण्ड ? अभी डाक्टर को बुलाकर दिखा देना होगा। मैंने निश्चय कर लिया है, डाक्टर भटनागर

अब इस घर में कदम नहीं रख सकता। उसने प्रतिमा का केस खराब कर दिया था। बुखार उससे उतरता ही नहीं था। यह एकदम बकरे के थन की तरह निकम्मा सिद्ध हुआ। वैसे पूछो तो उस बिचारे का कसूर भी नहीं था, दवा तो उसने एक-से-एक बढ़िया दी; पर इससे क्या, बुखार तो नहीं उतरा। टाइफाइड को छोड़कर चाहे उसका बाप भी क्यों न हो, उसे कुछ-न-कुछ तो उतरना ही चाहिए। डाक्टर गुप्ता ने आते ही उतार दिया। अब तो गुप्ता ही मेरा फैमिली डाक्टर है। गुप्ता को बुलाओ। सुखिया, ओ सुखिया, जा जरा डाक्टर गुप्ता को तो बुला ला। कहना—वह कांति के मित्र हैं न, जो प्रयाग से आये हैं, उन्हें बुखार हो गया है; जरा चलकर देख लीजिये। बाबूजी ने कहा है। बेटा, मान गया मैं तो...

कांति —डा० भटनागर में मेरा 'फेथ' कभी नहीं रहा बाबूजी, लेकिन डा० नानकचन्द भी कम नहीं है। विनोद को उसे दिखाना ही ठीक होगा। न जाने उसके हाथ में कैसा जादू है! मेरा तो दिन-पर-दिन 'होमियोपैथी' में विश्वास बढ़ता जा रहा है।

चन्द्रकांत—(कमरे में टहलते हुए) मेरे बच्चे, तुम पढ़-लिखकर भी नासमझ ही रहे। बिना अनुभव के समझदार और बच्चे में अन्तर ही क्या है! अरे, होमियोपैथी भी कोई इलाज है! चाकलेट या मीठी गोलियां न दीं; होमियोपैथिक दवा दे दी! याद रखो, बड़ों की बात गांठ बांध लो—जब इलाज करो, ऐलोपैथिक डाक्टर का इलाज करो। 'कड़वी भेषज बिन पिये, मिटे न तन को ताप'। ये बाल धूप में सफेद नहीं हुए हैं। कहते क्यों नहीं विनोद बेटा?

विनोद —जी! (करवट बदल लेता है)

चन्द्रकांत—ये वैद्य-हकीम क्या जानें, हरड़-बहेड़ा और शरबत-शोरबे के पण्डित !

कांति —मैं चाहता हूँ आप इस मामले में...

चन्द्रकांत—नहीं, यह नहीं हो सकेगा। मैं जानता हूं विनोद का भला इसीमें है।

(सुखिया का प्रवेश)

सुखिया —सरकार वो बाबू आये हैं।

चन्द्रकांत—अबे कौन बाबू, नाम भी बतायेगा या यों ही...

सुखिया —वही जो उस दिन रात को आये थे।

चन्द्रकांत—लो और सुनो, गधों से पाला पड़ा है।

सुखिया —वह बाबू सरकार...

चन्द्रकांत—कह दे, आता हूँ। और मैंने तुझे डाक्टर के पास भेजा था। जल्दी जा (स्वयं भी चला जाता है)

कांति —तुम घबराना मत। मैं डाक्टर नानकचन्द को बुलाकर लाऊँगा। अव्वल तो मेरा खयाल है, शाम तक बुखार उतर जायगा। अच्छा विनोद, देर हो रही है चलूं। अभी मुझे बाथ-रूम भी जाना है।

विनोद —हां, हां, तुम जाओ। मैंने बुखार की कभी परवाह नहीं की है, कांति। उतर जायगा अपने-आप। शाम तक लौटने की कोशिश करना।

कांति —अवश्य, अवश्य, तुम्हारे बिना मेरा मन भी क्या लगेगा ! लेकिन जाना जरूरी है। अच्छा, विश यू आल राइट।

(सीटी बजाता चला जाता है)

विनोद —नमस्कार। (करवट बदल कर लेट जाता है)

(कांति की माँ सरस्वती का प्रवेश)

सरस्वती—(कमरे में घुसते ही) विनोद, क्या बात है ? उठो चाय-वाय तैयार है। कुछ खाओ-पियो। (पास जाकर) क्या बात है,

खैर तो है। कुछ तबियत खराब है क्या ? (पलंग के पास जाकर विनोद को छूकर) आय-हाय ! देखो तो कितना बुखार है ! मुंह ईंगुर-सा लाल हो रिया है बिचारे का—घबराओ मत बेटा, मैं अभी वैद हरिचन्द को बुलाती हूँ। देखकर दवा दे जायंगे। बड़े काबिल वैद हैं, विनोद। जरा कपड़ा ओढ़ लो न। (उढ़ाती हैं) जैसा कांति वैसा ही तू। मेरे लेखे तो दोनों एक हो। क्या सिर में कुछ दर्द है ! (हाथ फेर कर) कब्जी होगी। अभी ठीक हो जायगी। सुखिया, ओ सुखिया। न जाने कहां मर गया। इन नौकरों के मारे तो नाक में दम हो गया है। अरे शांति, ओ शांति। (शांति आता है) देख तो बेटा, जा हरिचन्द वैद-जी को बुला ला, देखकर दवा दे जायंगे। भैया, वैद हो तो ऐसा हो...

विनोद —माताजी, बाबूजी ने डाक्टर गुप्ता को बुलाया है। शायद कांति ने डाक्टर नानकचन्द के लिए कहा है।

सरस्वती —लो और सुनो, इनके मारे भी मेरा नाक में दम है। उस मरे डाक्टर को न कुछ आवे है, न जावे है। न जाने क्यों डाक्टर गुप्ता के पीछे पड़े रहे हैंगे। क्या नाम है उस मरे भटनागर का ? इन दोनों ने तो छोरी को मार ही डाला था। वह तो कहो, भला हो इन वैदजी का, बचा लिया। जा बेटा शांति, जा तो सही जल्दी।

शांति —जाऊं हूं माँ। (चला जाता है)

सरस्वती —अरी प्रतिमा, ओ प्रतिमा, (दूर से ही आवाज आती है—(हाँ मां क्या है ?') देख जरा मन्दिर में पण्डितजी पूजा कर रहे हैं। उनसे कहियो, जरा इधर होते जायं। और देख, उनसे कहियो, मार्जन का जल लेते आवें, विनोद भैय बीमार हैं। मैंने घर में ही मन्दिर बनवाया है बेटा !

विनोद —(उत्सुकता से करवट बदल कर) पण्डितजी का क्या होगा यहां मां ?

सरस्वती —बेटा, जरा मार्जन कर देंगे। अपने वो पण्डितजी रोज पूजा करने आवे हैं। मार्जन कर देंगे सारी। अला-गला दूर हो जायगी। तुम पढ़े-लिखे लोग मानो या न मानो, पर मैं तो मानूँ हूँगी भैया ? पिछले दिनों प्रतिमा बीमार थी। समझ लो पंडितजी के मार्जन से ही अच्छी हुई। मैंने कथा में एक बार सुना था—बुखार-उखार तो नाम के हैं, असली तो ये ग्रह, भूत ही हैं जो बुखार बनकर आ जायं हैंगे। सिर दबा दूँ क्या बेटा ? जैसे कांति वैसे तुम। तबतक न हो थोड़ा-सा दूध पी लो। अरी मिसरानी, ओ मिसरानी ? (दूर से आवाज—'आई बहूजी') अरी देख थोड़ा दूध तो गरम कर लाइयो।

विनोद —दूध तो मैं नहीं पीऊँगा, माताजी।

सरस्वती —(चिल्लाकर) अच्छा रहने दे। (विनोद से) क्या हर्ज है, थोड़ी देर बाद सही। जरा ओढ़ लो, मैं अभी आई। (जैसे ही जाने लगती है वैसे ही मार्जन का जल, दूर्वा लेकर पण्डितजी, कमरे में आते हैं। सरस्वती पण्डितजी से) देखो पण्डितजी, तुम्हारी पूजा से प्रतिमा जी उठी थी। याद है न ? मेरे कांति का मित्र है। देखो एक साथ पढ़े हैं। तुम्हें नहीं मालूम आज-कल वो आया है न ? चाचा ने बुलाया है, आज गांव जा रिया है। विनोद भी जा रिया था, पर इस बिचारे को बुखार हो गिया। जरा मंत्र पढ़कर मार्जन तो कर दो।

पण्डितजी—क्यों नहीं, बहूजी, मंत्र का बड़ा प्रभाव है। पुराने समयों में दवा-दारू कौन करे था। बस, मंत्राभिसिक्त जल से मार्जन करा के बीमारी गई। तुम तो बीमारी की कहो हो,

यहां तो मरे जी उठे थे मरे, जिनके जीने का कोई सवाल ही नहीं उठा था। (आँखें मटकाकर) हां ऐसा था मन्त्र का प्रभाव।

सरस्वती —सच कहो हो पण्डितजी, जरा कर तो दो मार्जन। वैसे मैंने अपने उन वैदजी को भी बुलाया है। शान्ति गया है बुलाने।

पण्डितजी—तभी, तभी, मैं भी कहूं आज शान्ति बाबू नहीं दिखाई दिये। ठीक है, एक शत्रु पर जब दो पिल पड़ें तो वह कैसे बचकर जायगा। अच्छा ये कांति बाबू के दोस्त हैं! अच्छा है भैया, खुश रहो, पढ़ो-लिखो, धर्म में श्रद्धा रखो—हम तो यह कहे हैं। क्यों बहूजी ?

सरस्वती —हां और क्या, पर आजकल के ये पढ़े-लिखे कुछ मानें तब न, ? तुम्हारे उन्हींको देख लो, कुछ दिनों से डाक्टरों के चक्कर में पड़े हैं। मैं कहूं हूं, अपने बुजुर्गों की दवाइयां क्यों छोड़ी जांय! जब ये डाक्टर नहीं थे तब क्या कोई अच्छा नहीं होवे था ? सभी ठीक होयं थे। अब न जाने कैसा जमाना आ रिया है !

पण्डितजी—जमाना बड़ा खराब है, बहूजी ! देवता, ब्राह्मण और गौ पर तो जैसे श्रद्धा ही न रही।

सरस्वती —अच्छा पण्डितजी, मार्जन कर दो, मैं अभी आई। (चली जाती है। पण्डित मंत्र पढ़कर विनोद के ऊपर बार बार जल छिड़कता है। इसी समय डाक्टर को लेकर चन्द्रकांत प्रवेश करता है।)

चन्द्रकांत—हैं हैं, अरे क्या हो रहा है ? (पास जाकर) बस करो, ब्राह्मण देवता, बस करो, (जोर से) अरे, तुम क्या समझते हो इसे भूत है ? रहने दो। न जाने इन औरतों को कब बुद्धि आयगी। अरे डाक्टर गुप्ता, आप इधर बैठिये न।

पण्डितजी—बस, थोड़ा ही मार्जन रह गया है, बाबूजी।

(मार्जन करता है)

डा० गुप्ता—महाराज, क्यों मारना चाहते हो बीमार को। निमोनिया हो जायगा, निमोनिया। (पण्डित डाक्टर के कहने पर भी मार्जन किये जाता है।) अटर न्यूसेन्स, मिस्टर चन्द्रकांत !

चन्द्रकांत—(कड़क कर) बस रहने दो। सुनते नहीं, डाक्टर गुप्ता क्या कह रहे हैं ? निमोनिया हो जायगा।

पण्डितजी—जैसी आपकी इच्छा। मेरा तो विचार है कि विनोद बाबू का इतने से ही बुखार उतर गया होगा। (चला जाता है)

डा० गुप्ता—मंत्रों से बीमारी अच्छी हो जाती तो हम क्या भाड़ झोंकने को इतना पढ़ते ! न जाने देश का यह अज्ञान कब दूर होगा ! (डाक्टर खाट के पास खड़ा होकर विनोद को देखता है।) बुखार तेज है। जीभ दिखाइये। पेट दिखाइये। (थर्मामीटर लगाकर नाड़ी की गति गिनता है, फिर थर्मामीटर देखकर) १०४ डिगरी। कोई बात नहीं, ठीक हो जायगा। दवा लिख देता हूं, डिस्पेन्सरी से मंगा लीजियेगा दो-दो घंटे बाद। पीने को केवल दूध। यू विल बी आल राइट विध इन टू आर थ्री डेज़।

चन्द्रकांत—डाक्टर गुप्ता, ये कान्ति के दोस्त हैं। बिचारे उसके साथ सैर को आये थे।

डा० गुप्ता—ठीक हो जायंगे। बेचैनी मालूम हो, बुखार न उतरे तो बरफ रखियेगा सिर पर।

चन्द्रकांत—ठीक है। (विनोद से) घबराने की बात कोई नहीं। ठीक हो जाओगे, मामूली बुखार है। मैं अभी दवा लाता हूं।

डा० गुप्ता—मैं शाम को भी आकर देख लूँगा। अच्छा मिस्टर चन्द्रकांत ! (एक तरफ से दोनों चले जाते हैं। दूसरी तरफ

से सरस्वती आती है।)

सरस्वती —क्या हुआ, पण्डितजी चले गये? मार्जन कर गये?

विनोद —(चुपचाप पड़ा रहता है)

सरस्वती —(देह छूकर) अब तो बुखार कम है। देखा मंत्र का प्रभाव, मार्जन करते ही फरक पड़ गया। (वहीं से चिल्ला कर) प्रतिमा, ओ प्रतिमा, सुनियो री जरा।

प्रतिमा —(वहीं से चिल्लाती हुई) क्या है?

सरस्वती —देख तो पण्डितजी गये क्या? बुखार तो कुछ उतरा दिखाई दे है। उनसे कह जरा और थोड़ी देर मार्जन कर दें। (प्रतिमा जाती है)

विनोद —नहीं रहने दीजिये। वे मार्जन कर गये हैं।

सरस्वती —क्या हर्ज है, अपने घर के ही पण्डित तो हैं। आधी रात को बुलाओ तो आधी रात को आवें। मखौल है क्या, बीस रुपये महीना, तीज-त्यौहार इसपर आटा-सीधा अलग। तीस तो पड़ी जाय हैंगे। ऊपर से भी आमदनी हो जायगी।

(प्रतिमा आती है)

प्रतिमा —पण्डितजी तो गये, अम्मा।

विनोद —माताजी, मार्जन रहने दीजिये। काफी हो गया।

(चुप हो जाता है। वैद हरिचन्द शान्ति के साथ आते हैं)

सरस्वती —लो वैदजी आ गये। आओ वैदजी!

हरिचन्द —क्या बात है बहूजी? सवेरे-ही-सवेरे शान्ति जो पहुँचा तो मैं डर गया। कायदे से किसी आदमी को देखकर वैद्य को खुश होना चाहिए; परन्तु मेरी आदत और ही है, मैं तो चाहता हूं अपनी जान-पहचान के लोग सदा प्रसन्न रहें। हां, क्या बात है? (संकेत से पूछता है)

सरस्वती —ये कान्ति के साथ पढ़े हैं वैदजी। छुट्टियों में उसीके संग सैर को आया, सो बिचारा बीमार पड़ गया। जरा

देखो तो—

(जैसे ही वैद नाड़ी देखने को बढ़ता है वैसे ही विनोद बोल उठता है।)

विनोद —डाक्टर गुप्ता भी देख गये हैं, माताजी।

हरिचन्द —फिर मेरी क्या आवश्यकता है, मेरा काम ही क्या है? (एकदम दूर जा खड़ा होता है) मैं ऐसे रोगियों का इलाज नहीं करता। उसी डाक्टर का इलाज करो। और मैं तो राजा भूपेन्द्रसिंह के यहाँ जा रहा था। सोचा बाबूजी ने बुलाया है तो जाना ही चाहिए।

(लौटने लगता है)

सरस्वती —वैदजी, उनकी भली चलाई। आने दो डाक्टर गुप्ता को। इलाज तो तुम जानो, तुम्हारा ही होगा। मैं क्या कांति के मित्र को और बीमार होने दूंगी? नहीं, तुम्हें ही इलाज करना होगा। तुम्हारी ही दवा दी जायगी। चलो देखो। उन मरों ने प्रतिमा को मार ही दिया था। तुम्हींने तो बचाया। वाह, यह कैसे हो सके हैगा? इस घर में डाक्टरी नहीं चलेगी।

हरिचन्द —(पास जाकर विनोद को देखते हुए) हाँ, सोच लो। मैं उन लोगों में से नहीं हूं, जो दवा देने के लिए भागते फिरें। मैं अच्छी तरह जानता हूँ, बाबू चन्द्रकांत डाक्टरों के चक्कर में पड़ गये हैं, जो अंग्रेजी दवाइयाँ देकर लोगों को मार देते हैं। (व्यंग से हंसकर) ये डाक्टर भी अजीब हैं। देशी बीमारी और अंग्रेजी दवाई! न देश, न काल! (विनोद को देखकर) पेट खराब है। काढ़ा देना होगा। एक गोली दूंगा, काढ़े के साथ दे देना। बुखार पचेगा और ठीक हो जायगा।

सरस्वती —(उछल कर) मैं कह नहीं रही थी, कब्जी से बुखार है।

कहो विनोद, क्या कहा था ? घोड़ी नहीं चढ़ें तो क्या बरात भी नहीं देखी ! बहुत-सी बीमारी का इलाज़ तो मैं खुद ही कर लूं हूँगी ।

हरिचन्द—बीमारी पहचानने में कर तो ले कोई मेरा मुकाबला। बड़े-बड़े सिविल सर्जन मुझे बुलाते हैं। अभी उस दिन राजा साहब के यहाँ सारे शहर के डाक्टर इकट्ठे हुए, किसी की समझ में नहीं आ रहा था क्या बीमारी है । मुझे बुलाया गया, देखते ही मैंने झट से कह दिया यह बीमारी है ।

सरस्वती—(वैद की तरफ विश्वास से देखकर) फिर मान गए !

हरिचन्द—मानते न तो क्या करते ! वह सिक्का बैठा कि शहर भर में धूम मच गई । अब रोज जाता हूँ ।

सरस्वती—आराम आ गया फिर ? भला क्यों न आराम आता । हमारे वैद्जी क्या कोई कम हैं।

हरिचन्द —अभी देर लगेगी । पुराना रोग है । ठीक हो जायगा ।

सरस्वती—अरे, तो आराम नहीं आया ? भला कौन बीमार है ?

हरिचन्द—उनकी बड़ी लड़की ।

सरस्वती—(साश्चर्य) वह गप्पो, क्या वैद्जी ? बड़ी अच्छी लड़की है बिचारी। राम करे अच्छी हो जाय !

हरिचन्द—हाँ । अच्छा, चला । काढ़ा और गोली भेज दूँगा । पहले बुखार पचेगा, फिर उतरेगा। उस दिन राजा साहब बोले—वैद्यजी, हमने आपको अपने परिवार का चिकित्सक बना लिया है ।

सरस्वती—सो तो है ही । तुम्हें क्या कमी है ! मैं तुमसे यही तो कहूँ हूँ कि हमें तो वैद्जी की दवा लगे है । पर न जाने...

हरिचन्द —सस्ती दवा, थोड़ी फीस, देशकाल के अनुसार । और क्या मैं डाक्टरी नहीं जानता ? मैंने भी तो मेटीरिया मेडिका सर्जरी पढ़ी है ।

सरस्वती —सो तो है ही वैदजी।

(सरस्वती वैद के साथ एक द्वार से निकल जाती है। दूसरे से चन्द्रकान्त सुखिया के साथ दवा लेकर आते हैं।)

चन्द्रकांत—लो बेटा विनोद, खुराक पी लो। अभी ठीक हो जाओगे।

(विनोद को उठाकर दवा पिलाता है)

विनोद —अभी वैद हरिचंद भी देखने आये थे।

चन्द्रकांत—(चौंककर) आये थे? वे मूर्ख वैद! वह क्या जाने इलाज करना। इन औरतों के मारे नाक में दम है साहब। दवा तो नहीं पी न? अच्छा दो-दो घण्टे बाद दवा लेते रहना। पीने को दूध, बस और कुछ नहीं। मैं काम से जा रहा हूँ। (जाते-जाते सुखिया से) देख, तू यहाँ बैठ। बाबू की देख-भाल करना भला!

सुखिया —जी सरकार।

(चन्द्रकान्त चला जाता है।)

बाबू, मैं तो झाड़-फूँक में विश्वास करता हूँ। हाथ फेरते ही बुखार उतर जायगा। यह ओझा से पानी लाया हूँ। दो घण्टे में बुखार क्या उसका नाम भी न रहेगा। मैंने तो छोटे बाबू से सवेरे ही कहा था—कहो तो ओझा को बुलाऊँ पर वे न माने। कहा, तू पागल है सुखिया। मैं चुप हो रहा। क्या करता, गरीब आदमी ठहरा। अभी दो घण्टे में बुखार का नाम भी न रहेगा बाबू!

विनोद —अरे कहीं बुखार भी झाड़-फूँक से गया है सुखिया! मैं तो गाँव का रहनेवाला हूं। मैंने तो कहीं नहीं देखा कि बुखार झाड़-फूँक से उतरता है। जरा पानी तो दो।

सुखिया —(दरी पर बैठकर तमाखू खाता हुआ) शर्त बद लो, शर्त। और वह ओझा तो वैदगी भी जाने है। हमारे यहां तो कोई भी और कहीं नहीं जाय हैगा। वैसे तुम्हारी मर्जी।

पानी पियोगे ? देता हूँ। यही पानी पी लो न। किसी को मालूम भी न होगा। न दवा न दारू। (पानी देता है।)

विनोद —(पानी पीकर) नहीं सुखिया, ओझा की कोई आवश्यकता नहीं है। कांति गया क्या ?

सुखिया —गये होंगे। घोड़ी तो दो दिन से खड़ी थी। अब तो पहुँचने वाले होंगे।

(इसी समय सरस्वती कटोरे में काढ़ा और दूसरे हाथ में दवा की गोली लेकर आती है।)

सरस्वती —लो बेटा विनोद, जरा जी कड़ा करके पी तो लो। ऊपर से ये गोली खा लो। नहीं नहीं, पहले गोली फिर काढ़ा। मैं भी कितनी भुलक्कड़ हूँ !

विनोद —दवा तो अभी मैं पी चुका हूँ, माताजी। बाबूजी पिला गये हैं।

सरस्वती —क्या कहा, दवा दे गये हैं ? कोई हर्ज नहीं, फायदा तुम्हें इसी दवा से होगा। यह काढ़ा ऐसा-वैसा नहीं है। एकदम लाभ होगा और मेरा तो तजुर्बा है। प्रतिमा मर रही थी, इन्हीं वैदजी ने उसे जिलाया। लो पी तो लो। (कटोरा देती है। विनोद चुपचाप काढ़ा पीने लगता है, इसी समय चन्द्र-कान्त लौट आते हैं। विनोद को दवा पीते देखकर।)

चन्द्रकांत—यह क्या हो रहा है विनोद ?

सरस्वती —दवा दे रही हूँ और क्या ?

चन्द्रकांत—तुम पागल हो चुकी हो। विनोद डाक्टर गुप्ता की दवा पी चुका है। और उसे और दवा देना !

सरस्वती —सुनो मैं नही मानती। मैं डाक्टर की दवा और डाक्टर दोनों को व्यर्थ समझती हूँ। मालूम नहीं है, प्रतिमा को इस डाक्टर ने मार ही डाला था, वह तो कहो वैद हरि-चन्द ने बचा लिया।

चन्द्रकांत—तुम मूर्ख हो। कहीं डाक्टर मूर्ख होता है? मूर्ख हैं ये वैद्य, जो कुछ नहीं जानते। प्रतिमा को तो डाक्टर से लाभ हुआ था।

सरस्वती—बिल्कुल गलत। दवा तो मैं देती थी। मुझे मालूम है, किससे लाभ हुआ उसे।

चन्द्रकां—तविनोद, दवा मत पियो; हर्गिज न पियो। वैद्यों की दवा पीना मृत्यु को बुलाना है।

सरस्वती—बेटा, यह काढ़ा पीना बहुत आवश्यक है। इसे बिना पिये तुम्हें लाभ ही न होगा। इन्हें कहने दो। ये ऐसे ही कहते रहे हैं। यदि इन वैदजी की दवा न होती तो प्रतिमा कभी की मर गई होती।

चन्द्रकांत—(कटोरा विनोद के हाथ से लेकर) इसे रहने दो। न जाने संसार से मूर्खता कब जायगी! लो इसे पियो।

सरस्वती—नहीं, यह नहीं हो सके हैगा। तुम्हें मालूम है वैद हरिचन्द की दवा से प्रतिमा मरते-मरते बची है। पराया लड़का है बिचारा, कान्ति के साथ सैर को आया है। डाक्टरों के चक्कर में पड़ा और बस। मैं हा हा खाती हूँ, इसे डाक्टर की दवा मत दो। रहने दो विनोद, क्या मैं इस घर की कोई भी नहीं हूँ।

चन्द्रकांत—क्या तुम यह नहीं जानतीं कि औरतों में बुद्धि थोड़ी होती है। मेरा कहा मानो और विनोद को डाक्टर की दवा पीने दो। अच्छा हो जायगा, सरस्वती!

सरस्वती—देखोजो, तुम क्या बात है मुझे ही सदा दबाते रहते हो। इस घर में कोई भी मेरी नहीं सुने हैगा। (एक दम रोकर) दो, और गाली दो, मार लो। (काढ़ा-गोली जमीन पर रख कर रोने लगती है। आंचल से आँसू पोंछती हुई) जैसे मैं इस घर की कोई भी नहीं हूँ। ऊँ ऊँ ऊँ ऊँ न अच्छी

बात सुने हैंगे न समझ की बात ईं ईं ईं ईं (रोती है)

चन्द्रकांत—(हैरान रहकर) अरे तो भगवान्, मैंने तुझे गाली कब दी। मैंने तो यही कहा है कि डाक्टर की दवा से विनोद अच्छा हो जायगा।

सरस्वती —(रोते हुए) ईं ईं ईं ईं और गाली किसे कहे हैंगे। मुझे मरी को मौत भी तो नहीं आवे है। एक दफा मर जाऊँ तो रोज-रोज का झंझट तो जाय। (रोकर) वैद हरिचन्द ने जहर तो नहीं दिया है, काढ़ा और गोली ही तो दी है। फिर न जाने इतनी जिद क्यों है। मैं क्या कोई इसकी दुश्मन हूँ ? (हिचकी भरकर) अच्छा करो तो बुरा होय है। (अकड़कर) मैं साफ कह दूं हूँ, विनोद पियेगा तो काढ़ा ही, डाक्टर की दवा हरगिज़-हरगिज़ नहीं पियेगा।

चन्द्रकांत—मैं कहता हूँ विनोद डाक्टर की दवा पियेगा।

सरस्वती —मैं कहती हूँ विनोद वैद की दवा पियेगा।

चन्द्रकांत—तुम मूर्ख हो, तुम्हें कोई कहाँ तक समझावे। मैंने दुनिया देखी है। मैं जानता हूँ आजकल किसकी दवा से फायदा होता है। देखो जिद न करो।

सरस्वती —(अड़ती हुई) देखो मेरी सुनो, घर के मामले में तुम्हें बोलने का कोई अधिकार नहीं है। विनोद अगर दवा पियेगा तो वैद की। वैदजी अभी तो कह गये हैं कि विनोद का बुखार ठीक हो जायगा। समझे कि नहीं।

चन्द्रकांत—नहीं, नहीं हरगिज़ नहीं। विनोद दवा पियेगा तो डाक्टर की। नहीं तो कोई दवा न पियेगा।

विनोद —इससे तो अच्छा यह है कि मैं कोई दवा न पीऊँ।

सरस्वती —यह कैसे हो सके हैगा भैया, मैं मर जाऊँ। इससे तो अच्छा है भगवान् मुझे उठालें। अब इस घर में मेरी कोई जरूरत नहीं है। हाय राम, दूसरों के सामने भी मेरा अपमान हो

रिया है और तुम देख रहे होगे। (क्रोध से) मैं तो अपना सिर फोड़ लूँगी। इस घर में अब मेरी जरूरत ही क्या है। ले पी विनोद !

चन्द्रकांत —(लाचारी से) अच्छा भाई, काढ़ा पी लो, मुझे क्या। अजब परेशानी में जान है इन औरतों के मारे ! तुम लोग कभी कोई नई बात नहीं सीखोगी। कभी दूसरे का कहना न मानोगी। कभी भला बुरा न सोचोगी। (अकड़ कर) डाक्टर मेरा चाचा तो नहीं लगता; लेकिन याद रखो विनोद, जल्दी अच्छा होने के लिए यह आवश्यक है कि तुम डाक्टर की दवा पियो। अच्छा चलो, विनोद के ऊपर ही फैसला रहा। क्यों विनोद ?

सरस्वती —देखा, लगे उसे बहकाने। वह क्या जाने बेचारा। मैं कहूं हूँ एक दिन वैद की दवा देकर तो देखो। लो बेटा, पियो तो सही काढ़ा।

चन्द्रकांत —और मैं दुश्मन हूँ।

सरस्वती —तुम क्यों दुश्मन होते। राम करे इसके दुश्मन रहें ही नहीं ! पियो तो सही।

विनोद —(दोनों को हाथ जोड़कर) यदि आप मुझे मेरे हाल पर छोड़ दें तो मैं शाम तक ठीक हो जाऊँगा।

दोनों —(चिल्लाकर) यह कैसे हो सकता है। दवा तो तुम जानो पीनी ही पड़ेगी।

विनोद —नहीं नहीं, आप क्षमा करें बाबूजी, मैं अंग्रेजी दवा पीने का आदी नहीं हूं।

सरस्वती —(चिल्लाकर) मैंने कहा था न कि विनोद को वैदजी की दवा से आराम होगा।

विनोद —नहीं मैं वैद्य की दवा भी न पीऊँगा। मैं वैसे ही ठीक हो जाऊँगा, माताजी।

(उठकर चलने को तैयार होता है । इसी समय कान्ति डाक्टर नानकचन्द के साथ प्रवेश करता है ।)

कांति —आइये डाक्टर साहब, मैंने कहा (पिता को देखकर) विनोद को जरा डाक्टर साहब को भी दिखा दूं । (विनोद की तरफ देखकर) अरे विनोद, तुम तो जा रहे हो । क्या बात है ? सुनो, देखो-डाक्टर साहब आये हैं—होमियोपैथिक हैं । सुनो विनोद !

विनोद —मेरा बुखार घूमने से उतरता है कान्ति । मैं घूमने जा रहा हूँ । (जाता है)

डाक्टर —ही इज सफरिंग परहेप्स फ्राम किंग्स िसीज़ । इनको नींद में घूमने की बीमारी मालूम होती है ।

कांति —(चिल्लाकर) विचारा विनोद ! मैं जाता हूं । शायद वह अपने आपे में नहीं है ।

चन्द्रकांत —लेकिन डाक्टर ने तो बुखार की दवा दी है ।

सरस्वती —और, वैदजी ने अपच का काढ़ा, डाक्टर साहब ।

सुखिया —फायदा तो मेरे लाये पानी से हुआ है । मैं ओझा से फूंकवाकर पानी लाया था ।

डाक्टर —मिस्टर कान्ति, मुझे इस घर में सभी बीमार मालूम होते हैं; चलो ।

सब —(चिल्लाकर) ओ : डाक्टर !

(परदा गिरता है)

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

'अश्क' का जन्म १४ दिसम्बर १६१० को जालन्धर नगर में हुआ। आप कवि, कथाकार, उपन्यास-लेखक, आलोचक तथा नाटककार सभी कुछ हैं। आपने शिक्षा, पत्र-सम्पादन, आल इण्डिया रेडियो और सिनेमा आदि अनेक क्षेत्रों में काम करके अनुभव प्राप्त किया है। बीमार हो जाने के कारण बम्बई और उसीके साथ सिनेमा-संसार को छोड़ना पड़ा। स्वस्थ होने के बाद से इलाहाबाद में प्रकाशन का काम कर रहे हैं।

पहला एकांकी 'पापी' सन् १६३७ में 'विशाल-भारत' में प्रकाशित हुआ था। तबसे निरन्तर सुन्दर और सफल एकांकियों की सृष्टि कर रहे हैं। आपके एकांकी मौलिक, सोद्देश्य तथा कलापूर्ण हैं। सुपाठ्य होने के साथ-साथ वे अभिनेय भी हैं। रंगमंच, सिनेमा और रेडियो तीनों—विधानों पर एक-सा अधिकार है।

आपकी कला पर साधना और अनुभूति की गहरी छाप है। सजीवता और सहानुभूति आपकी कला के गुण हैं। व्यंगात्मक और रोमैंटिक चित्रण में विशेष सफल हुए हैं।

लक्ष्मी का स्वागत

●

पात्र-परिचय

रौशन	:	एक शिक्षित युवक
सुरेन्द्र	:	उसका मित्र
भाषी	:	उसका छोटा भाई
पिता	:	रौशन का बाप
मां	:	रौशन की माता
अरुण	:	रौशन का बीमार बच्चा

स्थान—जिला जालन्धर के इलाके में मध्यम श्रेणी के एक मकान का दालान।

समय—नौ-दस बजे सुबह।

(दालान में सामने की दीवार से मेज लगी है, जिसके इस ओर एक पुरानी कुर्सी पड़ी है। मेज पर बच्चों की किताबें बिखरी पड़ी हैं। दीवार के दायें कोने में एक खिड़की है, जिसपर मामूली छींट का पर्दा लगा है। बायें कोने में एक दरवाजा है, जो सीढ़ियों में खुलता है। दाईं दीवार में एक दरवाजा है जो कमरे में खुलता है; जहां इस वक्त रौशन का बच्चा अरुण बीमार पड़ा है।

दीवारों पर बिना फ्रेम के सस्ती तसवीरें कीलों से जड़ी हुई हैं। छत पर कागज का एक पुराना फ़ानूस लटक रहा है।

पर्दा उठने पर सुरेन्द्र खिड़की में से बाहर की तरफ देख रहा है। बाहर मूसलाधार वर्षा हो रही है। हवा की साँय-साँय और मेंह के थपेड़े सुनाई देते हैं।

कुछ क्षण बाद वह खिड़की का पर्दा छोड़कर कमरे में घूमता है, फिर जाकर खिड़की के पास खड़ा हो जाता है—और पर्दा हटाकर बाहर देखता है।

दाईं ओर के कमरे में रौशनलाल दाखिल होता है।

रौशन—(दरवाजे को धीरे से बन्द करके) डाक्टर अभी नहीं आया ?

सुरेन्द्र—नहीं।

रौशन—वर्षा हो रही है।

सुरेन्द्र—मूसलाधार ! इन्द्र का क्रोध अभी शान्त नहीं हुआ।

रौशन—शायद ओले पड़ रहे हैं।

सुरेन्द्र—हां, ओले भी पड़ रहे हैं।

रौशन—भाषी पहुँच गया होगा ?

सुरेन्द्र—हां, पहुंच ही गया होगा। यह वर्षा और ओले ! बाजारों में घुटनों तक से कम पानी नहीं होगा।

रौशन—लेकिन अबतक उन्हें आ जाना चाहिए था। (स्वयं बढ़कर, खिड़की के पर्दे को हटाकर देखता है, फिर पर्दा छोड़कर वापस आ जाता है) अरुण की तबियत गिर रही है।

सुरेन्द्र—(चुप)

रौशन—उसकी सांस जैसे हर घड़ी रुकती जा रही है, उसका गला जैसे बन्द होता जा रहा है, उसकी आँखें खुली हैं; पर वह कुछ कह नहीं सकता, बेहोश-सा, असहाय-सा चुपचाप बिटर-बिटर ताक रहा है। आंखें लाल और शरीर गर्म है। सुरेन्द्र, जब वह सांस लेता है तो उसे बड़ा ही कष्ट होता है। मेरा कलेजा मुंह को आ रहा है। क्या होने को है, सुरेन्द्र ?

सुरेन्द्र—हौसला करो ! अभी डाक्टर आ जायगा। देखो, दरवाजे पर किसी ने दस्तक दी है।

(दोनों कुछ क्षण तक सुनते हैं। हवा की साँय-साँय)

रौशन—नहीं, कोई नहीं, हवा है।

सुरेन्द्र—(सुनकर) यह देखो, फिर किसी ने दस्तक दी।

(रौशन बढ़कर खिड़की में देखता है, फिर वापस आ जाता है)

रौशन—सामने के मकान का दरवाजा खटखटाया जा रहा है।

(बेचैनी से कमरे में घूमता है। सुरेन्द्र कुर्सी से पीठ लगाये छत में हिलते हुए फ़ानूस को देख रहा है।)

—सुरेन्द्र, यह मामूली बुखार नहीं, यह गले की तकलीफ साधारण नहीं, मेरा तो दिल डर रहा है, कहीं अपनी मा की तरह अरुण भी तो धोखा न दे जायगा ? (गला भर आता है) तुमने उसे नहीं देखा, सांस लेने में उसे कितना कष्ट

हो रहा है !

(हवा की साँय-साँय और मेंह के थपेड़े)

—यह वर्षा, यह आंधी, यह मेरे मन में हौल पैदा कर रहे हैं। कुछ अनिष्ट होने को है। प्रकृति का यह भयानक खेल, यह मौत की आवाजें...

(बिजली जोर से कड़क उठती है। दरवाजा जरा-सा खुलता है। मा झांकती है।)

मा —रौशो, दरवाज़ा खोलो। आओ, देखो शायद डाक्टर आया है।

(दरवाजा बन्द करके चली आती है।)

रौशन —सुरेन्द्र...

(सुरेन्द्र तेजी से जाता है। रौशन बेचैनी से कमरे में घूमता है। सुरेन्द्र के साथ डाक्टर और भापी प्रवेश करते हैं। भापी के हाथ में इन्जेक्शन का सामान होता है।)

डा० —क्या हाल है बच्चे का ?

(बरसाती उतार कर खूंटी पर टांगता है और रूमाल से मुँह पोंछता है।)

रौशन —आपको भापी ने बताया होगा। मेरा तो हौसला टूट रहा है। कल सुबह उसे कुछ ज्वर हुआ और सांस में तकलीफ़ हो गई और आज तो वह बेहोश-सा पड़ा है, जैसे अन्तिम सांसों को जाने से रोक रखने का भरसक प्रयास कर रहा है।

डा० —चलो, चलकर देखता हूँ।

(सब बीमार के कमरे में चले जाते हैं। बाहर दरवाजे के खटखटाने की आवाज आती है। मा तेजी से प्रवेश करती है।)

मा —भापी ! भापी !

(बीमार के कमरे से भापी आता है)

मा —देखो भापी, बाहर कौन दरवाजा खटखटा रहा है ? (आंखों में चमक आ जाती है) मेरा तो खयाल है, वही लोग आये हैं।

मैंने रसोई की खिड़की से देखा है। टपकते हुए छाते लिये और बरसातियां पहने...

भाषी —वही कौन ?

मा —वही जो सरला के मरने पर अपनी लड़की के लिए कह रहे थे। बड़े भले आदमी हैं। सुनती हूँ, सियालकोट में उनका बड़ा काम है। इतनी वर्षा में भी....

(जोर-जोर से कुण्डी खटखटाने की निरन्तर आवाज आती है। भाषी भागकर जाता है, मा खिड़की में जा खड़ी होती है। बीमार के कमरे का दरवाजा खुलता है। सुरेन्द्र तेजी से प्रवेश करता है।)

सुरेन्द्र—भाषी कहां है ?

मा —बाहर कोई आया है, कुण्डी खोलने गया है।

(सुरेन्द्र फिर तेजी से वापस चला जाता है। मां एक बार पर्दा उठाकर खिड़की से झांकती है, फिर खुशी-खुशी कमरे में घूमती है। भाषी दाखिल होता है।)

मा —कौन हैं ?

भाषी —शायद वही हैं। नीचे बिठा आया हूँ, पिताजी के पास, तुम चलो।

मा —क्यों ?

भाषी —उनके साथ एक स्त्री भी है।

(मा जल्दी-जल्दी चली जाती है। सुरेन्द्र कमरे का दरवाजा जरा-सा खोलकर देखता है और आवाज देता है—)

सुरेन्द्र—भाषी !

भाषी —हां।

सुरेन्द्र—इधर आओ।

(भाषी कमरे में चला जाता है। कुछ क्षण के लिए खामोशी। केवल बाहर मेंह बरसने और हवा के थपेड़ों से

किवाड़ों के खड़खड़ाने का शोर, कमरे में फ़ानूस के हिलने की सरसराहट। डाक्टर, सुरेन्द्र, रौशन और भाभी बाहर आते हैं।)

रौशन —डाक्टर साहब, अब बताइए।

डाक्टर—(अत्यधिक गम्भीरता से) बच्चे की हालत नाज़ुक है।

रौशन —बहुत नाज़ुक है ?

डाक्टर—हाँ !

रौशन —कुछ नहीं हो सकता ?

डाक्टर—परमात्मा के घर कुछ कमी नहीं; लेकिन आपने बहुत देर कर दी है। खन्नाक* (Diphtheria) में तत्काल डाक्टर को बुलाना चाहिए।

रौशन —हमें मालूम ही नहीं हुआ डाक्टर साहब, कल शाम को इसे बुखार हो गया, गले में भी इसने बहुत कष्ट महसूस किया। मैं डाक्टर जीवाराम के पास ले गया—वही जो हमारे बाजार में हैं—उन्होंने गले में आयरन-ग्लिसरीन पेंट कर दी और फीवर-मिक्स्चर बना दिया, बस दो बार दवा दी, इसकी हालत पहले से खराब हो गई। शाम को यह कुछ बेहोश-सा हो गया। मैंभागा-भागा आपके पास गया, पर आप मिले नहीं, तब रात को भाभी को भेजा, फिर भी आप न मिले। डाक्टर जीवाराम आये थे, पर मैं उनकी दवा देने का हौसला न कर सका और फिर यह झड़ी लग गई।

(ज़रा कांपता है)

—ओले, आंधी और तूफान ! ऐसी प्रलयकारी वर्षा तो कभी न देखी थी।

(बाहर हवा की सांय-सांय सुनाई देती है। डाक्टर सिर

---

*Diphtheria—गले का संक्रामक रोग, जिसमें सांस बन्द हो जाने से मृत्यु हो जाती है।

नीचा किये खड़ा है, रौशन उत्सुक नजरों से उसकी ओर ताक रहा है, सुरेन्द्र मेज के एक कोने पर बैठा छत की ओर जोर जोर से हिलते फ़ानूस को देख रहा है)

डाक्टर—(सिर उठाता है) मैंने इंजेक्शन दे दिया है। भाषी ने जो लक्षण बताये थे, उन्हें सुनकर मैं बचाव के तौर पर इंजेक्शन का सामान और ट्यूब साथ लेता आया था और मेरा खयाल ठीक निकला। भाषी को मेरे साथ भेज दो, मैं इसे नुस्खा लिख देता हूँ, यहीं बाजार से दवाई बनवा लेना, मेरी जगह तो दूर है। पन्द्रह-पन्द्रह मिनट के बाद हलक में दवा की दो-चार बूंदें टपकाते रहना और एक घंटे में मुझे सूचित करना। यदि एक घंटे तक यह ठीक रहा तो मैं एक इंजेक्शन और कर जाऊंगा। इंजेक्शन के सिवा डिप्थीरिया का दूसरा इलाज नहीं।

रौशन —डाक्टर साहब...(आवाज भर आती है।)

डाक्टर—घबराने से काम नहीं चलेगा, सावधानी से उसकी तीमारदारी करो, शायद...

रौशन —मैं अपनी तरफ से कोई कसर न उठा रखूंगा। सुरेन्द्र, तुम मेरे पास रहना, देखो जाना नहीं, यह घर उस बच्चे के लिए वीराना है। यह लोग इसका जीवन नहीं चाहते, बड़ा रिश्ता पाने के मार्ग में इसे रोड़ा समझते हैं। इसकी मृत्यु चाहते हैं, सुरेन्द्र !

सुरेन्द्र —तुम क्या कह रहे हो रौशन ? उन्हें क्या यह प्रिय नहीं ? मूल से ब्याज प्यारा होता है ?

डाक्टर—क्या कह रहे हो रौशनलाल ?

रौशन —आप नहीं जानते डाक्टर साहब ! यह सब लोग हृदयहीन हैं, आपको मालूम नहीं। इधर मैं अपनी पत्नी का दाहकर्म करके आया था, उधर ये लोग दूसरी जगह शादी के लिए शगुन लेने की सोच रहे थे।

सुरेन्द्र —यह तो दुनिया का व्यवहार है, भाई !

रौशन —दुनिया का व्यवहार इतना शुष्क, इतना निर्मम, इतना क्रूर है ? मैं उससे नफ़रत करता हूं ! क्या ये लोग नहीं समझते कि यह जो मर जाती है, वह भी किसीकी लड़की होती है, किसी माता-पिता के लाड़ में पली होती है ? फिर उसके मरते ही सगाइयां लेकर दौड़ते हैं ! स्मृति-मात्र से मेरा खून उबलने लगता है !

डाक्टर—(चौंककर) देर हो रही है, मैं दवा भेजता हूँ। (भाषी से) भाषी, चलो।

(डाक्टर साहब और भाषी का प्रस्थान)

रौशन —सुरेन्द्र, क्या होने को है ? क्या अरुण भी मुझे सरला की भाँति छोड़ कर चला जायगा ? मैं तो इसका मुँह देख कर सन्तोष किये हुए था। उस-जैसी सूरत, उसी-जैसी भोली-भाली आँखें, उसी-जैसे मुस्कराते ओंठ; उसी-जैसा सीधा सरल स्वभाव ! मैं इसे देखकर सरला का गम भूल चुका था; लेकिन अब, अब....

(हाथों से चेहरा छिपा लेता है)

सुरेन्द्र —(उसे ढकेलकर कमरे की ओर ले जाता हुआ) पागल न बनो, चलो। उसके घर में क्या कमी है ? वह चाहे तो मरते हुओं को बचा दे, मृतकों को जीवन प्रदान कर दे !

रौशन —(भर्राये गले से) मुझे उसपर कोई विश्वास नहीं रहा। उसका कोई भरोसा नहीं—क्रूर, कठिन और निर्दयी ! उसका काम सताये हुओं को और सताना है, जले हुए को और जलाना है। अपने इस जीवन में हमने किसको सताया, किसको दुःख दिया, जो हमपर ये बिजलियाँ गिराई गईं, हमें इतना दुःख दिया गया !

सुरेन्द्र —दीवाने न बनो, चलो, उसके सिरहाने चलकर बैठो ! मैं देखता

हूं, भाषी क्यों नहीं आया।

(उसे दरवाजे के अन्दर ढकेलकर मुड़ता है। दाईं ओर के दरवाजे से माँ दाखिल होती है।)

मा —किधर चले?

सुरेन्द्र —जरा भाषी को देखने जा रहा था?

मा —क्या हाल है अरुण का?

सुरेन्द्र —उसकी हालत खराब हो रही है।

मा —हमने तो बाबा बोलना ही छोड़ दिया। ये डाक्टर जो न करें थोड़ा है। बहू के मामले में भी तो यही बात हुई थी। अच्छी-भली हकीम की दवा हो रही थी, आराम आ रहा था, जिगर का बुखार ही था, दो-दो वर्ष भी रहता है; पर यह डाक्टर को लाए बिना न माना। डाक्टरों को आजकल दिक के बिना कुछ सूझता ही नहीं। ज़रा बुखार पुराना हुआ, ज़रा खांसी आई कि दिक़ का फतवा दे देते हैं। 'मुझे दिक़ हो गया है!'—यह सुनकर मरीज की आधी जान तो पहले ही निकल जाती है। हमने तो भाई इसीलिए कुछ कहना-सुनना छोड़ दिया है। आखिर मैंने भी तो पाँच बच्चे पाले हैं। बीमारियाँ हुईं, कष्ट हुए, कभी डाक्टरों के पीछे भागी-भागी नहीं फिरी। क्या बताया डाक्टर ने!

सुरेन्द्र —डिप्थीरिया?

मा —वह क्या होता है?

सुरेन्द्र —बड़ी खतरनाक बीमारी है, माजी! अच्छा भला आदमी दो-चार दिन के अन्दर खत्म हो जाता है।

मा —(काँपकर) राम-राम, तुम लोगों ने क्या कुछ-का-कुछ बना डाला। उसे जरा ज्वर हो गया, छाती जम गई; बस मैं घुट्टी दे देती तो ठीक हो जाता, लेकिन मुझे कोई हाथ लगाने दे तब न! हमें तो वह कहता है, बच्चे से प्यार ही नहीं।

सुरेन्द्र—नहीं-नहीं, वह कैसे हो सकता है। आपसे अधिक वह किसे प्यारा होगा ?

(चलने को उद्यत होता है)

मा —सुनो !

(सुरेन्द्र रुक जाता है।)

मा —मैं तुमसे बात करने आई थी, तुम उसके मित्र हो, उसे समझा सकते हो।

सुरेन्द्र—कहिए।

मा —आज वह फिर आये हैं।

सुरेन्द्र—वे कौन ?

मा —सियालकोट के एक व्यापारी हैं। जब सरला का चौथा हुआ था तो उस दिन रौशी के लिए अपनी लड़की का शगुन लेकर आये थे। पर उसे न जाने क्या हो गया है, किसी की सुनता ही नहीं, सामने ही न आया। हारकर बेचारे चले गये। रौशी के पिता ने उन्हें एक महीने बाद आने को कहा था, सो पूरे एक महीने बाद वे आये हैं।

सुरेन्द्र—माजी....

मा —तुम जानते हो बच्चा, दुनिया-जहान का यह कायदा ही है। गिरे हुए मकान की नींव पर ही दूसरा मकान खड़ा होता है। रामप्रताप को ही देख लो, अभी दाह-कर्म संस्कार के बाद नहाकर साफ़ा भी न निचौड़ा था कि नकोदर वालों ने शगुन दे दिया, एक महीने के बाद विवाह भी हो गया। और अब तो सुनते हैं, एक बच्चा भी होनेवाला है।

सुरेन्द्र—माजी, रामप्रताप और रौशन में कुछ अन्तर है।

मा —यही कि वह माता-पिता का आज्ञाकारी है और यह पढ़-लिख कर माँ-बाप की अवज्ञा करना सीख गया है। और अभी तो चार नाते आते हैं, फिर देर हो गई तो इधर कोई मुँह भी न

करेगा। लोग सौ बातें बनायेंगे, सौ-सौ लांछन लगायेंगे और फिर ऐसा कौन क्वारा है....

सुरेन्द्र—तुम्हारा रौशन बिन-ब्याहा नहीं रहेगा, इसका मैं यकीन दिलाता हूँ।

मा —यही ठीक है, पर अब यह शरीफ़ आदमी मिलते हैं। घर अच्छा है, लड़की अच्छी है, सुशील है, सुन्दर है, सुशिक्षित है और सबसे बढ़कर यह है कि ये लोग बड़े भले हैं। लड़की की बड़ी बहन से अभी मैंने बातें की हैं। ऐसी सलीक़े वाली है कि क्या कहूं। बोलती है तो फूल झड़ते हैं। जिसकी बड़ी बहन ऐसी है, वह स्वयं कैसे अच्छी न होगी ?

सुरेन्द्र—माजी, अरुण की तबियत बहुत ख़राब है। जाकर देखो तो मालूम हो।

मा —बेटा, ये भी तो इतनी दूर से आए हैं। इस आँधी और तूफान में कैसे उन्हें निराश लौटा दूँ !

सुरेन्द्र—तो आखिर आप मुझसे क्या चाहती हैं ?

मा —तुम्हारा वह मित्र है, उससे जाकर कहो कि ज़रा दो-चार मिनट जाकर उनसे बात कर ले। जो कुछ वे पूछते हों, उन्हें बता दे इतने में लड़के के पास बैठती हूँ।

सुरेन्द्र—मुझसे यह नहीं हो सकता माजी, बच्चे की हालत ठीक नहीं; बल्कि शोचनीय है। और आप जानती हैं, वह उसे कितना प्यार करता है। भाभी के बाद उसका सब ध्यान बच्चे में केन्द्रित हो गया है। वह उसे अपनी आँखों में बिठाये रखता है, स्वयं उसका मुँह-हाथ धुलाता है, स्वयं नहलाता है, स्वयं कपड़े पहनाता है और इस वक्त जब बच्चे की हालत ठीक नहीं मैं उससे यह सब कैसे कहूँ ?

(बीमार के कमरे का दरवाजा खुलता है। रौशन दाखिल होता है।

बाल बिखरे हुए, चेहरा उतरा हुआ, आंखें फटी-फटी-सी ।)

रौशन—सुरेन्द्र, तुम अभी यहीं खड़े हो ? परमात्मा के लिए जल्दी जाओ ! मेरी बरसाती ले जाओ, नीचे से छतरी ले जाओ, देखो भापो आया क्यों नहीं ? अरुण तो जा रहा है, प्रतिक्षण जैसे डूब रहा है !

(सुरेन्द्र एक बार खिड़की से बाहर देखता है और फिर तेजी से निकल जाता है। मा रौशन के समीप जाती है ।)

मा—क्या बात है, घबराये क्यों हो ?

रौशन—माँ, उसे डिप्थीरिया हो गया है ।

मा—सुरेन्द्र ने बताया है। (असन्तोष से सिर हिलाकर) तुम लोगों ने मल-मिलाकर...

रौशन—क्या कह रही हो ? तुम्हें अगर स्वयं कुछ मालूम नहीं तो दूसरे को तो कुछ करने दो ।

मा—चलो, मैं चलकर देखती हूं ।

(बढ़ती है ।)

रौशन—(रास्ता रोकता है) नहीं, तुम मत जाओ । उसे बेहद तकलीफ़ है, उसे सांस मुश्किल से आता है, उसका दम उखड़ रहा है, तुम कोई घुट्टी-बुट्टी की बात करोगी। तुम यहीं रहो, मैं उसे बचाने की अन्तिम कोशिश करूँगा ।

(जाना चाहता है ।)

मा—सुनो !

(रौशन मुड़ता है । मा असमंजस में है ।)

रौशन—कहो !

मा—(चुप)

रौशन—जल्दी-जल्दी कहो, मुझे जाना है

मा—वे फिर आये हैं ।

रौशन—वे कौन ?

मा —वही सियालकोट वाले !

रौशन —(क्रोध से) उनसे कहो, जिस तरह आये हैं वैसे ही चले जायं।

(जाना चाहता है।)

मा —रौशी !

रौशन —मैं नहीं जानता, मैं पागल हूँ या आप ! क्या आप मेरी सूरत नहीं देखतीं ? क्या आपको इसपर कुछ लिखा दिखाई नहीं देता ? शादी, शादी, शादी ! क्या शादी ही दुनिया में सब कुछ है ! घर में बच्चा मर रहा है और तुम्हें शादी सूझ रही है। आखिर तुम लोगों को हो क्या गया है ? वह अभी मृत्यु-शैय्या पर पड़ी थी कि तुमने मेरी साली को लेकर शादी की बात चला दी; वह मर गई, मैं अभी रो भी न पाया कि तुम शगुन लेने पर ज़ोर देने लगीं। क्या वह मेरी पत्नी न थी ? क्या वह कोई फालतू चीज़ थी ?

मा —शोर मत मचाओ ! हम तुम्हारे फ़ायदे की बात करते हैं, रामप्रताप....

रौशन —(चीखकर) तुम रामप्रताप को मुझसे मिलाती हो ? अनपढ़, अशिक्षित, गँवार ! उसके दिल कहाँ है ? महसूस करने का माद्दा कहाँ है ? वह जानवर है !

मा —तुम्हारे पिता ने भी तो पहली पत्नी की मृत्यु के दूसरे महीने ही विवाह कर लिया था....

रौशन —वे....मा जाओ, मैं क्या कहने लगा था ?

(तेजी से मुड़कर कमरे में चला जाता है और दरवाज़ा बन्द कर लेता है। हाथ में हुक्का लिये हुए, खंखारते-खंखारते रौशन के पिता का प्रवेश।)

पिता —क्या कहता है रौशन ?

मा —वह तो बात भी नहीं सुनता, जाने बच्चे की तबियत बहुत खराब है।

पिता —(खँखारकर) एक दिन में ही इतनी क्या ख़राब हो गई ? मैं जानता हूँ, यह सब बहानेबाज़ी है ।

(जोर से आवाज देता है—)

रौशी, रौशी !

(खिड़कियों पर वायु के थपेड़ों की आवाज)

(फिर आवाज देता है—)

रौशी, रौशी ।

(रौशन दरवाजा खोलकर झाँकता है । चेहरा पहले से भी उतरा हुआ है, आँखें रूँआंसी-सी और निगाहों में करुणा ।)

रौशन —(अत्यन्त थके स्वर से) धीरे बोलें, आप क्या शोर मचा रहे हैं ?

पिता —इधर आओ !

रौशन —मेरे पास समय नहीं ?

पिता —(चीख कर) समय नहीं !

रौशन —धीरे बोलिये आप !

पिता —मैं कहता हूँ, वे इतनी दूर से आए हैं, तुम्हें देखना चाहते हैं, तुम जाकर उनसे जरा एक-दो मिनट बातचीत कर लो ।

रौशन —मैं नहीं जा सकता ।

पिता —नहीं जा सकता ?

रौशन —नहीं जा सकता !

पिता —तो मैं शगुन ले रहा हूँ ! इस वर्षा, आँधी और तूफान में मैं उन्हें अपने घर से निराश नहीं भेज सकता, घर आई लक्ष्मी को नहीं लौटा सकता । लड़की अच्छी है, सुन्दर है, घर के काम-काज में चतुर है, चार-पाँच श्रेणी तक पढ़ी है । रामायण, महाभारत बखूबी पढ़ लेती है ।

(रोने की तरह रौशन हँसता है ।)

रौशन —हाँ, आप लक्ष्मी को न लौटाइए ।

(खट से दरवाजा बन्द कर लेता है ।)

पिता —(रौशन की मा से) इस एक महीने में हमने कितनों को इन्कार किया है, पर इनको कैसे इन्कार करें ? सियालकोट में बड़ी भारी इनकी फर्म है। मैंने महीने भर में अच्छी तरह पता लगा लिया है। हजारों का तो इनके यहां लेन-देन है। उन्हें कुछ बहू की बीमारी की ओर से आशंका थी। पूछते थे—उसका देहान्त किस रोग से हुआ ? सो भई मैंने तो यही कह दिया—दिक्क-विक्क कुछ नहीं थी, जिगर की बीमारी थी। (गर्व से) लाख हो, रौशन-जैसा कमाऊ लड़का मिल भी कैसे सकता है ? बेकारों की फौज दरकार हो तो चाहे जितनी मर्जी इकट्ठा कर लो। उस दिन लाला सुन्दरलाल अपनी लड़की के लिए कह रहे थे—कालेज में पढ़ती है। पर मैंने तो इन्कार कर दिया।

मा —अच्छा किया। मुझे तो आयु भर उसकी गुलामी करनी पड़ती—बच्चे को पूछते होंगे ?

पिता —हाँ, मैंने तो कह दिया—बच्चा है, पर माँ की मृत्यु के बाद उसकी हालत ठीक नहीं रहती।

मा —तो आप हां कर दें।

पिता —हाँ, मैं तो शगुन ले लूँगा।

(चले जाते हैं। हुक्के की आवाज दूर होते-होते गुम हो जाती है। माँ खुशी खुशी में घूमती है, कमरे में भापी आता है और तेजी से निकल जाता है।)

मा —भापी !

भापी —मैं डाक्टर के यहाँ जा रहा हूँ !

(तेजी से चला जाता है। बीमार के कमरे से सुरेन्द्र निकलता है।)

सुरेन्द्र—माजी !

मा —क्या बात है ?

सुरेन्द्र—दाने लाओ और दिये का प्रबन्ध करो !

मा —क्या ?...

(आँखें फाड़े उसकी ओर देखती रह जाती है। हवा की साँय-साँय)

सुरेन्द्र—अरुण इस संसार से जा रहा है !

(फ़ानूस टूटकर धरती पर पड़ता है। मा भागकर द... वाजे पर जाती है।)

मा —रौशी, रौशी !

(दरवाज़ा अन्दर से बन्द है।)

मा —रौशी, रौशी !

रौशन —(कमरे के अन्दर से भर्राये स्वर में) क्या बात है ?

मा —दरवाजा !

रौशन—तुम पहले लक्ष्मी का स्वागत कर लो !

मा —रौशी !

....

(बाईं ओर के दरवाजे के बाहर से खँखारने की और हुक्के की आवाज।)

पिता —(सीढ़ियों से ही) रौशन की माँ बधाई हो !

(रौशन के पिता का प्रवेश। मा उनकी ओर मुड़ती है !)

पिता —बधाई हो मैंने शगुन ले लिया !

(कमरे का दरवाजा खुलता है, मृत बालक का शव लिये रौशन का प्रवेश)

रोशन —हाँ, नाचो, गाओ, बाजे बजाओ !

(पिता के हाथ से हुक्का गिर जाता है और मुँह खुला रह जाता है।)

पिता —मेरा बच्चा ! (वहीं बैठ जाता है ।)
मा —मेरा लाल ! (रोने लगती है।)
सुरेन्द्र—माजी, जाकर दाने लाओ और दिये का प्रबन्ध करो ।

पर्दा

सेठ गोविन्ददास

नाटककार होने से पूर्व सेठजी मध्यप्रदेश के एक प्रमुख राजनीतिक नेता हैं। आपका जीवन अनेक संघर्षों में से गुजरा है। गांधी-विचारधारा से प्रभावित हैं। उसकी छाप आपकी कला पर है। सन् १६२१ से ही आप कांग्रेस के साथ हैं।

प्रकाशित और अप्रकाशित लगभग दो दर्जन नाटक लिख चुके हैं। विषय की दृष्टि से ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक और समस्या-मूलक सभी प्रकार के नाटक लिखे हैं। कला पर आदर्शवाद का गहरा प्रभाव है।

सेठजी ने एकांकी कला में कई प्रकार के प्रयोग किये हैं। एकपात्री एकांकी (मोनो ड्रामा) भी लिखे हैं।

आपने कई पत्रों की स्थापना तथा उनका सम्पादन किया है। सिनेमा-संसार से आप परिचित हैं। इधर एक वृहद् उपन्यास लिखा है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति रह चुके हैं।

कंगाल नहीं

●

पात्र-परिचय

राजमाता	:	सिलापरी गांव की मालगुजारिन, गजगोंड वंश की राजमाता
बड़े राजा	:	राजमाता का बड़ा पुत्र
मंझले राजा	:	राजमाता का मंझला पुत्र
छोटे राजा	:	राजमाता का छोटा पुत्र
बड़ी रानी	:	बड़े राजा की पत्नी
मंझली रानी	:	मँझले राजा की पत्नी
राजकुमारी	:	राजमाता की पुत्री
स्थान	:	सिलापरी गांव (जिला सागर, मध्यप्रदेश)

नोट : इस नाटक की कथा मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता राय-बहादुर हीरालाल ने लेखक को बताई थी। कथा एक सत्य घटना है।

स्थान : सिलापरी गाँव में राजमाता का घर

समय : सन्ध्या

(एक तरफ़ को राजमाता के घर की खपरेल परछी दिखाई देती है, जिसके कई खपरे टूट गये हैं। परछी में एक ओर घर के भीतर जाने का दरवाज़ा दीखता है, जिसके किवाड़ों की लकड़ी भी टूट गई है। यह दरवाज़ा खुला हुआ है और इसके अन्दर घर के छोटे-से मैले-कुचले कोठे का एक हिस्सा दिखाई देता है। परछी के सामने मैदान है। मैदान के एक तरफ़ दूर पर गाँव के कुछ झोंपड़े दीखते हैं और दूसरी तरफ़ खेत का एक हिस्सा, जिसमें छोटी-छोटी विरल सूखी-सी फ़सल खड़ी है। परछी में एक फटे बोरे पर राजमाता बैठी हैं। उनकी उम्र क़रीब ५० साल की है। रंग साँवला है। मुख और शरीर पर कुछ झुरियाँ पड़ गई हैं। बाल आधे से अधिक सफेद हो गये हैं। शरीर बहुत दुबला-पतला है। शरीर पर वे एक मैली-सी लाल बुन्देलखंडी सूती साड़ी पहने हैं जो कई जगह से फटी हुई है और जिसमें कई जगह थिगड़े लगे हैं। राजमाता के पास बड़ी रानी और मँझली रानी जमीन पर ही बैठी हुई हैं। दोनों सांवले रंग की हैं। बड़ी रानी की उम्र क़रीब पच्चीस वर्ष और मँझली रानी की करीब बीस वर्ष की है। दोनों युवतियाँ होते हुए भी कृश हैं और उनकी आँखों के चारों तरफ़ के गढ़ों और सूखे ओठों से जान पड़ता है कि उन्हें पेट भर खाने को नहीं मिलता। दोनों राजमाता के समान ही लाल रंग की साड़ियाँ पहने हैं, जो कई जगह से फटी और चिथड़ैल.

भी हैं। दोनों के हाथों में मोटी-मोटी लाख की एक-एक चूड़ी है। तीनों में बात-चीत हो रही है। राजमाता की आँखों में आंसू भरे हैं।)

मँझली रानी—कहाँ तक रंज करोगी माँ, और रंज करने से फायदा ही क्या होगा ?

राजमाता —जानती हूँ बेटी, पर जानने से क्या होता है, जो बात रंज की है, उसपर रंज आये बिना नहीं रहता।

मँझली रानी—पर माँ, जो बात बस की नहीं, उसपर रंज करना व्यर्थ है।

राजमाता —बिना बस की बात जो ज्यादा रंज पहुँचाती है।

(घर के भीतर से छोटे राजा और राजकुमारी हाथ में एक-एक तस्वीर लिये हुए आते हैं। छोटे राजा की उम्र करीब बारह वर्ष की है। वह साँवले रंग और ठिगने क़द का दुबला-पतला लड़का है। एक मैली और फटी-सी धोती पहने है, जो घुटने के ऊपर तक चढ़ी है। राजकुमारी करीब ८ साल की साँवले रंग की दुबली-पतली लड़की है। एक मैली-सी लाल रंग की फटी हुई साड़ी पहने है। साड़ी इतनी फट गई है कि उसके शरीर का अधिकांश हिस्सा साड़ी में से दीखता है।)

छोटे राजा —माँ ! (राजकुमारी की ओर इशारा करके) यह कहती है दुर्गावती ने बावन गढ़ जीते थे, मैं कहता हूँ संग्रामशाह ने। फ़ैसला तुम करो, मैं सच्चा हूँ या यह ?

राजकुमारी —हाँ, तुम फैसला कर दो, माँ ?

राजमाता —बेटा, संग्रामशाह ने बावन गढ़ जीते थे, दुर्गावती ने नहीं।

छोटे राजा —देखा, मैंने पहले ही कहा था, यह वीरता आदमी कर सकता है, औरत नहीं।

(राजकुमारी उदास हो जाती है)

राजमाता —(राजकुमारी को उदास देखकर) उदास हो गई, बेटी, पर हमारे कुल में तो औरतें आदमियों से कम वीर नहीं हुईं। संग्रामशाहने बावन गढ़ जीते तो क्या हुआ, दुर्गावती उनसे कम वीर नहीं थीं।

बड़ी रानी —हाँ, संग्रामशाह ने बावन गढ़ जीतकर वीरता दिखाई तो दुर्गावती ने अपने प्राण देकर।

मँझली रानी—हाँ, जीत में वीरता दिखाना उतना कठिन नहीं, जितना हार में।

(राजमाता रो पड़ती है।)

बड़ी रानी —माँ, फिर वही, फिर वही।

छोटे राजा —(राजमाता के पास जाकर उनके निकट बैठकर) माँ, तुम रोती क्यों हो? मैं संग्रामशाह से भी बड़ा वीर बनूँगा। उसने बावन गढ़ जीते थे, मैं बावन शहर जीतूँगा।

राजकुमारी —(राजमाता के पास जाकर) और माँ, मैं दुर्गावती से भी बड़ी बनूँगी।

छोटे राजा —(संग्रामशाह की तस्वीर दिखाते हुए) देखो माँ, संग्रामशाह से मैं कितना मिलता-जुलता हूँ। अगर मेरी इस फटी धोती की जगह जैसे कपड़े ये पहने हैं, वैसे पहना दो, मुझे तलवार मँगवा दो, और ऐसा ही घोड़ा खरीद दो तो मैं अकेला बावन शहर जीत लाऊँ।

राजकुमारी —और माँ, देखो मैं दुर्गावती से कितनी मिलती हूँ। अगर तुम मुझे भी दुर्गावती जैसे कपड़े पहना दो, हथियार मँगवा दो और जैसे हाथी पर ये बैठी हैं, वैसा हाथी मँगवा दो तो मैं भी दुर्गावती से बड़ी वीर बन जाऊँ।

(राजमाता के और अधिक आँसू गिरने लगते हैं।)

बड़ी रानी —(छोटे राजा और राजकुमारी को हाथ पकड़ कर उठाते हुए) अच्छा, राजाजी, और बाईजी, मेरे साथ चलो,

मैं तुम दोनों को सब चीजें मँगा दूँगी।

(दोनों को लेकर बड़ी रानी घर के भीतर जाती है। मँझली रानी राजमाता के निकट सरककर अपनी फटी साड़ी से राजमाता के आँसू पोंछती है। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।)

मँझली रानी—माँ, थोड़ा तो धीरज रखो।

राजमाता —बहुत जतन करती हूँ, बेटी, धीरज रखने के बहुत जतन करती हूँ; पर जब इन बच्चों की ऐसी बातें सुनती हूँ, तब तो हृदय में ऐसा शूल उठता है जैसा भूखे-पेट और नंगे-तन-रहने पर भी नहीं। (कुछ ठहर कर) और बेटी एक बात जानती है ?

मँझली रानी—क्या, माँ ?

राजमाता —ये बच्चे ही इन तस्वीरों को लिए घूमते हैं और ऐसा सोचते और कहते हैं, यह नहीं। तेरे मालिक और बड़ी बहू के मालिक भी जब छोटे थे तब वे भी इसी तरह इन तस्वीरों को लिये घूमते और यही सब कहते फिरते थे। और वे ही नहीं, मेरे मालिक, उनके बाप और उनके पिता, सब यही सोचते और कहते थे !

मँझली रानी—आह ?

(राजमाता लंबी सांस लेती हैं। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।)

राजमाता —बेटी, संग्रामशाह और दुर्गावती को पीढ़ियाँ बीत गईं। गिरती में सबने बढ़ती की सोची। बीती को सोचा, भविष्य के लम्बे विचार किये, पर वर्तमान किसी ने न देखा और आज....(कुछ रुककर) आज, बेटी, बावन गढ़ के विजेता संग्रामशाह के कुल को बावन छदाम भी नसीब नहीं।

(मँझले राजा का खेत की तरफ़ से प्रवेश। मँझले राजा की उम्र २२, २३ वर्ष की है। रंग साँवला और शरीर दुबला-पतला तथा ठिगना है। एक मैली और फटी-सी धोती को छोड़ कर और कोई वस्त्र शरीर पर नहीं है। हाथ में थोड़े-से गेहूँ के दाने हैं, जो बहुत पतले पड़ गये हैं। उन्हें देखकर मँझली रानी घर के अन्दर चली जाती है।)

मँझले राजा—(गेहूँ के दानों को राजमाता के सामने पटक कर भर्राये हुए स्वर में) माँ, सब हार में झिरी पड़ गई। बीज निकलना भी कठिन है।

राजमाता —(लम्बी सांस लेकर) तब...तब...तो वसूली भी न होगी।

मँझले राजा—वसूली...वसूली...माँ, लगान तो इस साल सरकार ने मुलतवी कर दिया है।

राजमाता —(एकदम घबड़ाकर खड़े होते हुए) मुलतवी हो गई?

मँझले राजा—हाँ माँ, आज ही हुक्म आया है।

राजमाता —तो सिलापरी गाँव से जो एक सौ रुपया बचते थे, वे भी न आयेंगे?

मँझले राजा—इस वर्ष तो नहीं, माँ।

राजमाता —फिर हम लोग क्या खायेंगे, क्या पियेंगे?

मँझले राजा—पिनसन के सरकार एक सौ बीस रुपया साल देती है न?

राजमाता —सात जीव एक सौ बीस रुपया साल में गुजर करेंगे? महीने में दस रुपये, एक जीव के लिए तीन पैसे रोज?

मँझले राजा—बड़े भाई ने एक उपाय और किया है माँ!

राजमाता —(उत्सुकता से) क्या, बेटा?

मँझले राजा—तुम धीरज रखकर बैठो तो बताऊँ।

राजमाता —(बैठते हुए) जल्दी बता बेटा, मेरा कलेजा मुँह को आ

रहा है।

मँझले राजा—माँ, अकाल के कारण सरकार ने काम खोला है न ?

राजमाता —हाँ, जहाँ कंगाल काम करते हैं।

मँझले राजा—पर जानती हो माँ, उन्हें क्या मिलता है ?

राजमाता —क्या ?

मँझले राजा—हमसे बहुत ज्यादा। चार रुपया महीना, एक-एक को दो आने रोज।

राजमाता —अच्छा !

मँझले राजा—हम सात हैं। बड़े भाई ने अर्जी दी है कि हम सबको अकाल के काम में जगह दी जाय। माँ, वह अर्जी मंजूर हो गई तो हममें से—एक-एक को दो-दो आने रोज; सुना, दो-दो आने रोज; सबको मिलाकर अट्ठाईस रुपया महीना ; तीन सौ छत्तीस रुपया साल ; सुना, तीन सौ छत्तीस रुपया साल मिलेगा।

(बड़े राजा का खेत की ओर से प्रवेश। वे अपने भाई से मिलते-जुलते हैं। करीब २८ वर्ष की उम्र है। वेश-भूषा उन्हीं के सदृश है ! आकर राजमाता के पास बैठ जाते हैं।)

राजमाता —बेटा, मँझला कहता था कि तूने सरकार को एक अर्जी दी है ?

बड़े राजा —(लम्बी सांस लेकर) हाँ, दी थी माँ !

राजमाता —(उत्सुकता से) फिर क्या हुआ बेटा, मंजूर हो गई ?

बड़े राजा —नहीं।

मँझले राजा—नहीं हुई, तो क्या हम कंगालों से भी बदतर हैं।

बड़े राजा —इसीलिए तो नहीं हुई कि हम कंगालों से कहीं बढ़कर हैं।

राजमाता —बेटा, तेरी बात समझ में नहीं आती।

बड़े राजा —माँ, हमें पेनशिन मिलती है, हम महाराजाधिराज राज-

राजेश्वर संग्रामशाह और महारानी दुर्गावती के कुल के हैं। हमारी बड़ी इज्जत है। हमारा बड़ा मान है। हमारी आमदनी चाहे तीन पैसा रोज ही हो, पर हमें कंगालों की रोजनदारी, दो आना रोज, कैसे मिल सकती है? हमारी भर्ती कंगालों में कैसे की जा सकती है?

(बड़े राजा ठठाकर हँसते हैं और लगातार हँसते रहते हैं। राजमाता के आँसू बहते हैं और मँझले राजा उद्विग्नता से बड़े राजा की ओर देखते हैं।)

यवनिका-पतन

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'

प्रेमीजी मध्यभारत के निवासी हैं। आपका जन्म ग्वालियर में हुआ। अधिकतर लाहौर रहे। वहां से बम्बई सिनेमा-क्षेत्र में चले गये आजकल इन्दौर में हैं। स्वतंत्र रूप से लेखन का काम करते हैं।

नाटककार होने से पूर्व प्रेमीजी कवि हैं इसलिए आपके नाटकों में कवि का आदर्शवाद है पर आपने जहां कोमलता के गीत गाये हैं वहाँ विद्रोह का स्वर भी उठाया है। वैसे आप गान्धी-युग की भावना के प्रतिनिधि हैं।

प्रेमीजी की भाषा पुष्ट और काव्यमय है।

आपने अधिकतर ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं पर एकांकियों के क्षेत्र में आपने सामाजिक समस्याओं पर भी कलम उठाई है। आप कुशल सम्पादक और प्रकाशक भी रहे हैं।

मालव-प्रेम

●

पात्र-परिचय

जयदेव : मालवगण का सेनापति ।

विजया : जयदेव की कुमारी बहन ।

श्रीपाल : विजया का प्रेमी ।

स्थान—मालवदेश । काल—विक्रमी संवत् के २५ वर्ष पूर्व ।

(विक्रमी संवत् के प्रारम्भ होने के लगभग २५ वर्ष पूर्व का काल। चम्बल-तट का एक ग्राम। विजया नदी-तट की एक शिला पर बैठी हुई गा रही है। समय रात का प्रारम्भ, विजया की वय १६-१७ वर्ष के लगभग है। उज्वल गौर वर्ण, शरीर सुगठित, लम्बा, अत्यन्त आकर्षक स्वरूप। आँखों में आकर्षण के साथ तेज। वेश सुरुचिपूर्ण होते हुए भी उसके स्वभाव के अल्हड़पन को व्यक्त करने वाला। सिर से उत्तरीय का पहलू खिसक भूमि पर गिर गया है। उत्तरीय के अतिरिक्त एक दुपट्टा वक्ष और कन्धे के आसपास लिपटा पड़ा है। लम्बे बाल वायु में लहरा रहे हैं।)

विजया—(गाना)

जो निकट इतना, वही है
हाय, कितनी दूर ?
जब नयन मैं मूदती, वह
छवि दिखा मुझको लुभाता।
जब बढ़ाती हाथ तब
कुछ भी नहीं है हाथ आता।
धूल में मिलते अचानक
स्वप्न होकर चूर।
जो निकट इतना वही है
हाय, कितनी दूर !
जो सज्जन बन 'नयन-तारा'
लोचनों में है समाया।
वह गगन का चांद होकर
दूर से ही मुसकराया।

इसलिए थमता नहीं है
आंसुओं का पूर ।
जो निकट इतना, वही है
हाय, कितनी दूर !
पालने में श्वास के है
हर घड़ी झूला झुलाया ।
क्यों न उसने प्रेम मेरा
आज तक पहचान पाया ।
मैं उसी को प्यार करने
के लिए मजबूर ।
जो निकट इतना, वही है
हाय, कितनी दूर ?

(विजया गीत गाने में तल्लीन है। श्रीपाल आकर उसकी नजर बचाकर उसके पास खड़ा रहता है। श्रीपाल एक बलिष्ठ और सुन्दर नवयुवक है। उसका वेश योद्धा का है। कमर में तलवार, हाथ में धनुष, कन्धे पर पीछे की ओर तरकश। वय लगभग २५ वर्ष)

श्रीपाल —विजया !

विजया —(गाना बन्द करके खड़ी होकर, उत्तरीय का पल्ला सिर पर डालती हुई।) तुम बड़े अशिष्ट हो, श्रीपाल !

श्रीपाल —ऐसे कोमल कंठ से ऐसे कठोर शब्द शोभा नहीं देते, विजया।

विजया —तुम अपनी सीमा के बाहर जाते हो ?

श्रीपाल —मैंने तुम्हारा अपमान किया है क्या, विजया ?

विजया —अपमान तो नहीं किया।

श्रीपाल —फिर ?

विजया —यहां एकांत में मुझे अस्त-व्यस्त भेष में देर तक चुपचाप खड़े देखते रहना....

श्रीपाल —मैं तुम्हें जीवन-भर देखना चाहता हूं, विजया !

विजया —(किंचित् लज्जा-मिश्रित क्रोध से) किस अधिकार से ?

श्रीपाल —जिस अधिकार से चांद तुम्हें इस समय देख रहा है।

विजया —दूर रहकर आकाश से ?

श्रीपाल —हां, तुम मेरे जीवन की प्रेरणा हो, स्फूर्ति हो। तुम्हारी स्मृति मेरे रक्त को गति देती है। तुम्हें पाने की इच्छा करना मेरे जीवन का जीवन है—लेकिन तुम्हें पा लेना मेरे जीवन की मृत्यु है।

विजया —उधर देखते हो, श्रीपाल ! कहीं वर्षा हुई है, इसलिए चम्बल में जल बढ़ गया है। धारा के दोनों ओर चट्टानें हैं। जल को फैलने को स्थान नहीं मिल रहा। वह कितना जोर कर रहा है ! कितने वेग से आगे बढ़ रहा है !

श्रीपाल —हमारे-तुम्हारे बीच में इससे भी बड़ी चट्टानें हैं, विजया !

विजया —कौन-सी चट्टानें ?

श्रीपाल —तुम्हारा भाई जयदेव ! उसे अपने कुल का अभिमान है। मैं एक साधारण किसान का पुत्र हूँ और तुम भारत की सुप्रसिद्ध मालव जाति की कन्या हो। आकाश की तारिका की ओर पृथ्वी पर पैर रखकर चलने वाला प्राणी कैसे हाथ बढ़ा सकता है ?

विजया —यदि यह तारिका आकाश से उतर कर तुम्हारी गोद में आ गिरे तो ?

श्रीपाल —मैं उसे स्वीकार नहीं करूँगा।

विजया —क्यों ?

श्रीपाल —मैं कृपा का दान नहीं चाहता।

विजया —तो चोरी करना चाहते हो, डाका डालना चाहते हो ? डाका डालना तो कायरता नहीं है ?

श्रीपाल —मैं इतना छोटा नहीं बनना चाहता कि मुझे अपनी ही चीज

की चोरी करनी पड़े ।

विजया —अब तुम क्या चाहते हो ?

श्रीपाल —बदला ।

विजया —किससे ।

श्रीपाल —तुम्हारे भाई से !

विजया —अच्छा तो इसलिए तुमने शस्त्र पकड़े हैं ?

श्रीपाल —जो हल पकड़ना जानता है वह शस्त्र पकड़ना भी जान सकता है ।

विजया —लेकिन उसका उचित प्रयोग करना भी जान पाये तब न ?

श्रीपाल —मानवता का तिरस्कार करने वालों—सृष्टि के चिरंतन भाव-प्रेम का अपमान करने वालों के विरुद्ध मेरा शस्त्र होगा। जाता हूँ विजया ! तुम मेरे जीवन की स्फूर्ति हो—मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ ।

(प्रणाम करता है ।)

विजया —तुम जा तो रहे हो, श्रीपाल ! लेकिन मुझे भय है तुम मार्ग भूल जाओगे ?

श्रीपाल —तुम्हारा प्रेम मेरा मार्ग-दर्शक है ।

(श्रीपाल का प्रस्थान)

विजया —(श्रीपाल की ओर देखती हुई) विक्षिप्त-युवक !

(विजया कुछ क्षण स्तब्ध-सी खड़ी उसी ओर देखती रहती है जिस ओर श्रीपाल गया है। फिर एक लम्बी सांस लेकर शिला पर बैठ जाती है। कुछ क्षण विचार-मग्न रहकर वही गीत गाने लगती है । गीत आधा ही हो पाता है कि उसका भाई जयदेव प्रवेश करता है। जयदेव भी गौरवर्ण, बलिष्ठ शरीर, बड़ी आँखों और रोबदार चेहरे वाला नवयुवक है। सैनिक वेश-भूषा। कपड़ों से उसका सुसम्पन्न होना प्रकट होता है।)

जयदेव —(विजया के कन्धे पर हाथ रखकर) विजया !

विजया —(चौंककर) ओह, भैया !

जयदेव —चौंक क्यों उठी, बहन !

विजया —मैं डर गई थी !

जयदेव —मालय-कन्या होकर डर का नाम लेती है, विजया !

विजया —मैं शस्त्र की धार से नहीं डरती, सिंह के तीक्ष्ण नखों से नहीं डरती। मैं मनुष्य के शारीरिक बल से नहीं डरती। हिंसा से मैं लड़ सकती हूँ।

जयदेव —फिर डरती किस से हो, लड़ किससे नहीं सकती !

विजया —मनुष्य के प्रेम से। (दीन स्वर में) भैया !

जयदेव —(विजया के मस्तक पर हाथ रखते हुए) क्या बात है, विजया ?

विजया —मैं अपने हृदय पर विजय नहीं पा सकती। प्राणों में आठों पहर ज्वाला जलती है। तुम्हारी वंश-गौरव की दीवार मुझे रोक नहीं सकती। मैं विद्रोह करूँगी।

जयदेव —किससे ?

विजया —तुम्हारे अभिमान से। मेरे भाई मालव-कुल-भूषण जयदेव से !

जयदेव —तुम मुझसे युद्ध करोगी ?

विजया —हां।

जयदेव —जीत सकोगी ?

विजया —अवश्य !

जयदेव —कैसे ?

विजया —अपनी बलि देकर। इस शरीर को—जिसमें ऐसा मालव-रक्त प्रवाहित है जो मुझे प्रेम के स्वाधीन-प्रदेश में जाने से रोकता है—चम्बल के उद्दाम प्रवाह में प्रवाहित करके।

जयदेव —बहन, तुझे हो क्या गया है ?

विजया —तुम तो सब जानते हो, भैया !

जयदेव —यहां श्रीपाल आया था ?

विजया —हां।

जयदेव —तभी तुम इतनी चंचल हो उठी हो ! विजया, तुम्हें एक काम करना पड़ेगा।

विजया —क्या ?

जयदेव —मालव-भूमि को श्रीपाल का मस्तक चाहिए।

विजया —मालव-भूमि को या तुम्हें ?

जयदेव —मुझे नहीं मालव-भूमि को !

विजया —लेकिन उसे तो तुमसे शत्रुता है मालव-भूमि से नहीं !

जयदेव —वह मेरे अपराध का दण्ड मालव-भूमि को देना चाहता है।

विजया —मालव-भूमि को या मालव-गण को ?

जयदेव —जब विदेशी शासन हमारे देश पर होगा तब क्या कोई जाति पराधीनता से बच सकेगी ?

विजया—विदेशी शासन मालव पर !

जयदेव —हां, जिन शकों ने सिंध और सौराष्ट्र पर अधिकार कर लिया है उन्हें श्रीपाल ने मालवा पर आक्रमण करने को आमंत्रित किया है।

विजया —तुम लोगों का अभिमान अपने ही देश में देश के शत्रु उत्पन्न कर रहा है। तुमने श्रीपाल का अपमान किया है और निराशा उसे शत्रु के पास खींच ले गई है।

जयदेव —जिस जाति ने सदा भारत के अंग-रक्षक बनकर आततायियों को देश में आने से रोका है, जिसने सिकन्दर महान की विश्वविजयी यूनानी सेना को हजारों प्राणों की बाजी लगा कर वापिस लौट जाने को बाध्य किया उसे क्यों न अपने ऊपर गर्व हो ? उसे अपनी सैनिकता एवं बल-विक्रम पर अभिमान क्यों न हो ?

विजया —किन्तु जो जाति सैनिक नहीं है, क्या वह मनुष्य ही नहीं है ?

कार्य-विभाजन नीच-ऊँच की दीवारें क्यों खड़ी करे ?

जयदेव —यह इन बातों पर विचार करने का समय नहीं है ।

विजया —एक श्रीपाल का मस्तक लेकर देश की रक्षा नहीं कर सकोगे ?

जयदेव —तू श्रीपाल और देश दो में से किसे चुनोगी ?

विजया —तुम देश और मानवता दोनों में से किसे चुनोगे ?

जयदेव —पराधीनता मानवता का सबसे बड़ा पतन है !

विजया —और प्रेम ?

जयदेव —जो प्रेम देश की हत्या करे उसका गला घोंटना ही होगा ! श्रीपाल मालवा के मार्गों, नदी-पर्वतों से परिचित है । शक सैन्य-संख्या में हमसे अधिक हैं। उनके पास अपार अश्वारोहिणी दल है, अस्त्र-शस्त्र भी अपरिमित हैं । यदि उन्हें इस देश की भूमि से परिचित व्यक्ति मिल जाय तो परिणाम हमारे लिए भयंकर है । सोचो विजया, उस समय हमारे देश का क्या होगा ?

विजया —तुम मेरी हत्या कर दो भैया !

जयदेव —तो तुम देश के महत्व को नहीं समझीं । तुम्हारे पिता, तुम्हारे दादा और तुम्हारी न जाने कितनी पीढ़ियों ने इस भूमि की रक्षा में अपना रक्त सींचा है, बहन ! कितनी बहनों ने अपने भाइयों को रणभूमि में विसर्जित किया है—कितनी सुन्दरियों ने यौवन के प्रभातकाल में पतियों को स्वर्ग का मार्ग दिखाया है—यह एक विजया या एक श्रीपाल का प्रश्न नहीं है यह देश का प्रश्न है । बोल बहन, तू क्या कहती है ?

(विजया चुप रहती है)

जयदेव ,—तू सोचना चाहती है, तो सोच ! तू मालव-कन्या है, विजया! मैं अभी आता हूँ ।

(जयदेव का प्रस्थान । विजया हतबुद्धि-सी खड़ी रहती है । फिर वही गीत गुनगुनाने लगती है । श्रीपाल प्रवेश

करता है)

श्रीपाल — विजया !

विजया —अच्छा हुआ तुम आगए, नहीं तो मुझे तुम्हारे पास जाना पड़ता !

श्रीपाल —हाँ, मैं आ गया हूँ। मैंने अपना निश्चय बदल दिया है। मैं तुम्हें अपने साथ ले जाना चाहता हूँ।

विजया —लेकिन श्रीपाल मैंने निश्चय बदल डाला है।

श्रीपाल —क्या ?

विजया —मुझे तुम्हारा मोह छोड़ना होगा ?

श्रीपाल —फिर तुम मेरे पास क्यों आना चाहती थीं !

विजया —हम बचपन में एक साथ खेले हैं। अब जीवन का अन्तिम खेल भी तुम्हारे साथ खेल लेना चाहती हूँ, बोलो। खेलोगे श्रीपाल !

श्रीपाल —अवश्य, विजया !

विजया —नो लाओ, तुम्हारे बलिष्ठ हाथों को मैं अपने उत्तरीय से बाँध दूँ।

श्रीपाल —क्यों ?

विजया —आँख-मिचौनी में आँखें बन्द करते हैं, लेकिन यह नए प्रकार का खेल है। इसमें हाथ बाँधने पड़ते हैं। लाओ, हाथ बढ़ाओ

(श्रीपाल हाथ बढ़ाता है, विजया उसके हाथ खूब कस कर बाँध देती है। दूसरी ओर जयदेव का प्रवेश।)

श्रीपाल —(जयदेव को देखे बिना ही) अब आगे ?

विजया—आगे का खेल मेरे भैया खेलेंगे। (जयदेव की ओर उंगली उठाती है।)

श्रीपाल —विजया, तुम ऐसा छल कर सकती हो, इसकी मुझे कल्पना भी नहीं थी !

विजया —मुझे इस बात का अभिमान है कि अपने प्रियतम को मैंने देश-

द्रोह से बचा लिया।

जयदेव—(श्रीपाल से) तुम मेरे अपराध का दण्ड अपनी मातृभूमि को देना चाहते हो।

विजया— और देश ने तुम्हारे अपराध का दण्ड मुझे देने का निश्चय किया है!

श्रीपाल —जयदेव, तुम वीर हो। साहस और पुरुषार्थ के लिए प्रसिद्ध मालव-जाति के गौरव हो, तुम छल द्वारा मुझे बन्धन में बांधना पसन्द करते हो?

विजया —(श्रीपाल से) प्रियतम, मैं अपने अपराध के लिए क्षमा चाहती हूँ। (गले से हार उतार कर पहनाती हुई) यह मेरे प्रेम का अन्तिम प्रमाण है। आज हमारा स्वयंवर है। मालव-जाति की परम्परा के विरुद्ध कृषक-कुमार श्रीपाल को मैं वरमाला पहनाती हूँ। मैं तुम्हारी हूँ और तुम्हारी ही रहूँगी।

श्रीपाल —मेरे हाथ बंधे हुए हैं विजया! मैं तुम्हें कुछ प्रतिदान नहीं दे सकता। अपने प्रेम का कोई प्रमाण नहीं दे सकता।

विजया— प्रेम प्रतिदान नहीं चाहता। तुम्हारे चरणों की रज मुझे मिल सकती है? मेरे लिए यही अमूल्य निधि है।

(चरण छूती है!)

श्री सत्येन्द्र शरत

श्री शरत नई पीढ़ी के उदीयमान लेखक हैं। देहरादून जिले के भगवन्तपुर गांव के निवासी हैं। जन्म १० अप्रेल १६२६ को अमरावती (बरार) में हुआ तथा प्रारम्भिक शिक्षा नागपुर में। फिर देहरादून और प्रयाग में पढ़े। १६४६ में वहीं से एम० ए० किया। टेलीफोन आपरेटर, क्लर्क, सम्पादक रहकर अब बम्बई फिल्म-जगत में काम कर रहे हैं।

शरत कहानीकार, रेखाचित्र-लेखक तथा उपन्यासकार भी हैं। रेडियो-एकांकी भी लिखे हैं।

शरत का जीवन संघर्षों से निरंतर जूझते रहनेवाले व्यक्ति का जीवन है। वही जीवन उनकी कला में उतर आया है। द्वन्द्व, विद्रोह, दार्शनिकता और उन सबके ऊपर एक अमर आशावाद—ये सब शरत की कला के तत्व हैं। जीवन का दर्द लिये इनका यथार्थवाद निखरता आ रहा है।

शैली में गति है और भाषा में प्रवाह। शरत से बहुत आशायें हैं।

शोहदा

●

पात्र-परिचय

मालिक	:	होटल का मालिक
आगंतुक, नवयुवक	:	दो हत्यारे
पुलिस इन्स्पेक्टर	:	

(शहर के बदनाम मुहल्ले का एक गंदा छोटा-सा होटल, जिसे होटल न कह बदमाशों और जुआरियों का अड्डा भी कहा जा सकता है। कोई शरीफ़ आदमी शहर के उस भाग में नहीं जाता—इसी कारण होटल भी सज्जनों के सहवास से वंचित ही रहता है।

समय—एक उदास शाम के छः बजे के लगभग। कमरे के बीच में गोल मेज़ पर पाँच-छः जुआरी बैठे हैं। जोरों से ताश हो रहा है। वे लोग आवाजें कर रहे हैं—'छोड़ना नहीं'; 'चलो-चलो'; 'अच्छा, शो करो'; 'अबे सिर्फ़ दुअन्नी, चवन्नी रख चवन्नी'; आदि-आदि।

होटल का मालिक कमरे के उत्तरी कोने में—प्रमुख दरवाजे के पास—कुर्सी पर बैठा है। उसके सामने एक छोटी-सी मेज़ है। मेज़ पर टूटी कलम, सूखी दावात और एक घंटी रखी है। वह उचक कर खेल देख रहा है। प्रमुख दरवाज़ा बन्द है।

सहसा प्रमुख द्वार पर बाहर से खटखटाहट होती है। यह आवाज मालिक को चौंका देती है और खिलाड़ियों की तन्मयता में बाधा उपस्थित करती है।)

मालिक —(भीत कण्ठ से) कौन ?

आगंतुक —(जिसकी आवाज भर सुनाई दे रही है) **मैं हूँ एक ग्राहक। ज़रा जल्दी दरवाज़ा खोलो—जल्दी SSS**

(मालिक खिलाड़ियों की ओर अपना पेटेंट संकेत करता है। वे झटपट ताश छिपा लेते हैं और निश्चिन्त भाव से बैठ जाते हैं। मालिक बीड़ी सुलगाता है और आगे बढ़ दरवाज़ा खोलता है।

एक ढलते-से युवक का प्रवेश। कमीज़, धोती और फटे-से कोट में दाढ़ी बढ़ी हुई। वस्त्र और चेहरा बतला रहे हैं कि वह निर्धनता का सताया हुआ

है। घबराई मुद्रा बता रही है कि वह किसी वस्तु से भय खा रहा है। दोनों हाथ कोट की जेब में हैं। वह बीच में ठिठक कर खड़ा हो जाता है। मालिक आहिस्ता से दरवाजा बन्द कर लौटता है।)

मालिक —(जुआरियों से) सज्जनो, बेहतर हो आप अन्दर के कमरे में तशरीफ़ ले जायें। आप लोगों की चाय वहीं आ जायगी।

(खिलाड़ियों का खीसें निपोरते हुए तथा विचित्र चेहरे बनाते हुए दूसरे द्वार से अंदर प्रस्थान।)

मालिक —(आगंतुक की ओर मुड़) मेरे नये मेहमान, बैठिये। कहिये क्या हुकुम है ?

आगंतुक —(जिसकी घबराहट अबतक दूर नहीं हुई है) बात यह है कि...(जापानी घड़ी की भाँति सहसा रुक जाता है)

मालिक —कहिये-कहिये, रुकते क्यों हैं ?

आगंतुक —नहीं-नहीं दरअस्ल में...

मालिक —अरे साहब आप घबराते क्यों हैं !...इस तरह कांपिये मत और बतलाइये कि बात क्या है ? क्यों इतने परेशान हैं ?

आगंतुक —(कुछ साहस बाँध) मैं...मेरे पीछे पुलिस लगी हुई है। मैं अपने को बचाना चाहता हूँ। मैंने कुछ नहीं किया है...

मालिक —हाँ-हाँ, आपने कुछ नहीं किया है। मैं कब कहता हूं कि आपने कुछ किया है।

आगंतुक —(कुछ संतोष से) हाँ। आप...

मालिक —(बात काटकर) फ़िक्र न करें। आप यहाँ मज़े से बैठ सकते हैं। यहाँ पुलिस क्या, पुलिस का बाप भी नहीं

फटक सकता—जी हाँ। मजाक न समझिये जनाब, (सिर हिलाता हुआ) यह छेदालाल का होटल है—अजी होटल क्या, पनाहगाह है पनाहगाह। यहाँ सज्जन लोग ही पनाह लेते हैं। आते हैं और चले जाते हैं। अपने काम से काम—किसी से न लेना, न देना।

आगंतुक —(जिसे ये बातें व्यर्थ जान पड़ रही हैं) मगर आप मुझे कहीं छिपा दीजिये न! पुलिसवाले मेरे पीछे लगे हुए थे, शायद वे यहाँ भी आ जायें।

मालिक —(साहसी बनता हुआ) अजी आने भी दो। मैं कोई डरता हूं उनसे! सोलह साल से होटल चला रखा है मैंने—जी हाँ!

आगंतुक —लेकिन मैं तो उनसे डरता हूँ। तीन दिन से वे मेरे पीछे हैं। अबतक तो मैंने अपने आप को उनके हाथ नहीं आने दिया है, पर अब दीखता है मैं उनकी पकड़ में आजाऊँगा। वे मेरे हथकड़ी भर देंगे।

मालिक —(कुछ आश्चर्य से) ऐसा!...तीन दिन से पीछा कर रहे हैं! (अचानक) मगर हाँ, वे तुम्हारा पीछा क्यों कर रहे हैं? क्या किया है तुमने?

आगंतुक —(घबरा कर) कुछ नहीं...कुछ भी नहीं। मैं... मैंने तो...

मालिक —तुमने तो कुछ नहीं किया है, यह तो पुलिसवालों को जानना चाहिए। मुझे तो जानना चाहिये कि तुमने किया क्या! क्योंकि मैं पुलिस नहीं हूँ।

आगंतुक —(चुप है—जैसे सोच रहा है, कहे या न कहे)

मालिक —कहीं चोरी करके आये हो? (उंगलियाँ कैंची की तरह चलाकर) किसी की जेब कतर के?

आगंतुक —(बल देता हुआ) नहीं।

मालिक —तो फिर ? इससे ज्यादा की हिम्मत तो तुम्हारे अंदर दीखती नहीं। (रुककर) देखो, सही-सही बात बता दो। मुझसे उड़ने की कोशिश करने की ज़रूरत नहीं।

आगंतुक —(रुक-रुक कर)मैं...दरअसल में मैं...(एकदम साहसी बनकर) मैं खून करके आया हूँ।

मालिक —(जैसे आकाश तिरछा हो गया हो) खून !

आगंतुक —(ख़ामोश है)

मालिक —तु...तु...तुम खून करके आये हो !...तुमने ख़ून किया है ?...मुझे ताज्जुब हो रहा है। तुम्हारे जैसा आदमी भी ख़ून कर सकता है ?

आगंतुक —(कोई उत्तर नहीं)

मालिक —(जैसी अपनी कही हुई बातों का स्वयं उत्तर ढूँढ रहा हो) हो सकता है—मैं मानता हूँ। दुनिया में आदमी क्या नहीं कर सकता !....ख़ून भी कर सकता है। तुम भी ख़ून कर सकते हो। लेकिन मेरे ख़याल से तुमने अपने शिकार के सामने पिस्तौल का घोड़ा दबाया होगा ?

आगंतुक —('हाँ'—सूचक सिर हिलाता है)

मालिक —(सिर हिलाते हुए) हूं, मैं जानता हूं। छुरा भोंकने की हिम्मत मुझे तुम्हारे अन्दर नहीं दिखाई पड़ती। और गला—वह तो मर्द ही घोट सकता है—तुम्हारे जैसा नहीं। (ठहर कर) ख़ून किसी शहर में किया है—इसी में ?

आगंतुक —(मानो शब्द उसके गले में अटक रहे हों) हाँ, इसी शहर में।

मालिक —(उसके डर का आनन्द उठाते हुए) तो तुम मामूली

आसामी नहीं हो। खूनी हो—और हो भी बहुत तिकड़मी। तीन दिन से इसी शहर की गलियों में यहीं की पुलिस को झाँसा दे रहे हो, और अब शायद अँगूठा ही दिखा जाओ। लेकिन इस तरह कबतक बचोगे? एक-न-एक दिन फंदे में आना ही पड़ेगा। फिर?

(अचानक पीछे से जुआरियों का ठहाका सुनाई पड़ता है)

मालिक —अच्छा एक बात तो बताओ। (आगंतुक के निकट आकर, धीरे से) कितना रुपया हाथ आया है?

आगंतुक —रुपया?...रुपया तो कुछ भी नहीं मिला है।

मालिक —बहुत घुटे हुए हो तुम।...हां, तुम पनाह लेने यकायक मेरे होटल में कैसे आ गये?

आगंतुक —(उसे प्रसन्न करने के लिए) जी, मुझे एक आदमी ने बताया था...

मालिक —(भौं में बल डाल) क्या?

आगंतुक —यही कि मैं यहां जगह पा सकता हूँ—एक हफ़्ता, दो हफ़्ता, यानी जबतक पुलिस छानबीन कर ठंडी न पड़ जाय।

मालिक —(क्रोध न रोक सकने के कारण चीखते हुए) नहीं जनाब नहीं। यहाँ आप जैसे खूनी एक हफ्ता तो क्या, एक घंटे के वास्ते भी पनाह नहीं ले सकते। यहां जगह है, हल्के आदमियों के लिए, शरीफ़ों के लिए, जिन्हें पुलिस सिर्फ शक की वजह से ही परेशान करती है। आप...तु...तुम्हारे जैसे ख़तरनाक आसामियों के लिए नहीं, खूनियों के लिए नहीं। समझे?

आगंतुक —(दीन मुद्रा) मुझपर दया करो। मैं तुम्हारे हाथ...

मालिक —(बात काटकर) हाथ क्या हथकड़ियां डलवाओगे मेरे हाथों में ?...एक गुनहगार को पुलिस की निगाह से बचाना क़ानून की रू से जुर्म है और उसके वास्ते सज़ा भी मिलती है। तुम तो मेरे और पुलिस के सोलह साल के भाईचारे को बरबाद करने आये हो।

(कमरे में खामोशी हो जाती है।, अंदर जुआरियों का जोर से हँसना और शोर करना।)

मालिक —(तीखे स्वर से) सुन रहे हो जनाब। तुम्हें छिपा कर मैं अपने पैरों में खुद कुल्हाड़ी नहीं मार सकता। बेहतर है, तुम जैसे आये हो, वैसे ही चले जाओ।

आगंतुक —(काँपता हुआ) लेकिन जाऊँ कहाँ ? बाहर...

मालिक —(बात काट कर) तुम भाड़ में जाओ। मुझसे मतलब ? इतना ही काफी समझो जो मैंने तुम्हें इतनी देर जगह दे दी और उससे ज्यादा यह कि पुलिस को बुलवा कर तुम्हें पकड़वा न दिया। अब तुम जल्दी चलते बनो यहां से।

आगंतुक —(गिड़गिड़ाते हुए) अच्छा तो थोड़ी देर और रहने दो—मैं तुम्हारे पैर छूता हूँ—फिर मैं चला जाऊंगा।

मालिक —(कुछ शांत होकर) अजी, तुम्हारे ही जैसे लोगों की वजह से मेरा यह शरीफ होटल बदनाम होता है। जब लोग सुनेंगे कि सारे शहर के खूनी, लफंगे, शोहदे यहां इकट्ठा होते हैं और पुलिस यहां आकर उन्हें गिरफ्तार करती है—तो वे क्या सोचेंगे ?...वे सोचेंगे—यह सज्जनों का होटल नहीं है। वे यहां कभी नहीं आयेंगे। इससे बिजनेस के साथ होटल के नाम पर भी धक्का लगता है...समझे ? क्या समझे ?...तुम नहीं समझे !...तुम समझ भी नहीं

सकते। तु...तु...तुम्हारे दिमाग़ में तो पिस्तौल और खून भरा है।...तुम...

(सहसा दरवाजे पर फिर खटखटाहट होती है। आगंतुक अपने भाग्य के समान कांपने लगता है। वह मालिक का हाथ पकड़ लेता है, जो उसका हाथ झटक देता है और दरवाज़ा खोलने आगे बढ़ जाता है। आगंतुक भाग कर दूसरे दरवाजे से अंदर चला जाता है।

दुर्भाग्य की भांति एक नवयुवक का प्रवेश। चेहरा सुन्दर, किन्तु तनिक विकृत; प्रशस्त ललाट, उस-पर बिखरे हुए बालों की एक लट, दीप्तिमान नेत्र—अत्यन्त गहरे पानी की तरह न जाने उसके भीतर क्या है; भौंहें धनुष की भांति—जैसे संसार को चुनौती दे रही हों। चाल में गर्व तथा अभिमान।

वह खद्दर की कमीज़ और पतलून पहने हुए है। दोनों कपड़े साफ़ नहीं कहे जा सकते। कमीज़ का कालर काफी मैला दिखाई दे रहा है। दोनों हाथों के कफ़ के बटन टूटे हुए हैं।

नवयुवक —(कुर्सी पर बैठता हुआ) चाय—एक प्याला।

मालिक —बहुत अच्छा। अभी लीजिये।

नवयुवक —देखिये मिस्टर, आप यह दरवाज़ा बन्द करते जाइये (प्रमुख द्वार की ओर संकेत) और हाँ, चाय की ऐसी जल्दी नहीं है। मैं एकांत चाहता हूँ--बिलकुल एकांत। कोई मेरी विचारधारा में बाधा न दे। (सिग्रेट सुल-गाता है और जेब से दस रुपये का एक नोट निकाल कर देता है।)

मालिक —(नोट लेता हुआ) जी बहुत अच्छा, (अपनी मेज से

घंटी उठा कर नवयुवक के सामने रखते हुए) चाय की ज़रूरत पर इसे बजा दीजियेगा।

(मालिक प्रमुख द्वार बंद करता है और अन्दर जाता है। पहले व्यक्ति का फिर प्रवेश। नवयुवक को देख वह भयभीत नहीं होता। नवयुवक इस व्यक्ति को देखता है—आंखों में आश्चर्य का भाव। पहला व्यक्ति मेज़ के पास आकर नवयुवक के सामने की कुर्सी पर बैठता है।

नवयुवक —(उपेक्षा से) तुम...तुम कौन हो जी? यहाँ क्यों आये हो?

पहला व्यक्ति —मैं भी यहाँ चाय पीने ही आया हूँ।

नवयुवक —(पूर्ववत् भाव से) हूँ। (मुँह दरवाजे की ओर कर लेता है तथा अन्यमनस्कता-पूर्वक धुँवा उड़ाने लगता है)

पहला व्यक्ति —क्यों, क्या किसी का इन्तज़ार है?

नवयुवक —(खीजकर) हाँ पुलिस का।

पहला व्यक्ति —(कांपते से स्वर में) पु...पुलिस का?

नवयुवक —(उसे भयभीत देख) हाँ, पुलिस का। लेकिन तुम इतना डर क्यों गये? सिर्फ पुलिस के नाम से ही? (कुछ ठहर कर) आश्चर्य की बात है। डरना मुझे चाहिये था—डर रहे हो तुम?

पहला व्यक्ति —(कुछ साहस कर) तुम्हें?...तुम्हें क्यों डरना चाहिये था?

नवयुवक —क्यों मेरी करतूत ही ऐसी है।

पहला व्यक्ति —क्यों?...क्या तुमने भी किसी का खून कर दिया है?

(अचानक अन्दर से जुआरियों के तेज ठहाके की आवाज़ आती है। नवयुवक और व्यक्ति दोनों

चौंकते हैं। नवयुवक पहले व्यक्ति के चेहरे तथा नेत्रों पर कड़ी दृष्टि डालता है, जो उस तीव्र दृष्टि को सहन न कर सकने के कारण मुँह दूसरी ओर कर लेता है।)

नवयुवक —(कुटिल मुस्कान से) मैंने किसी का खून किया है या नहीं, इसे रहने दो। लेकिन मैं दावे के साथ कहता हूँ कि तुमने हाल में ही कोई खून किया है। बोलो सच है न?

पहला व्यक्ति —(जो मुट्ठी के पैसे की भांति पसीने से तर हो गया है) ले...लेकिन तु...तुम्हें कैसे मालूम हुआ?

नवयुवक —(उसकी दशा देख अट्टहास करता है) बस! इसी बिरते पर खून किया था! आश्चर्य है तुमने खून कैसे कर दिया? तुम्हारे अन्दर खून करने की हिम्मत हो कैसे गई? खून करने के लिए दिल चाहिए, और मैं देखता हूँ, तुम्हारे अन्दर दिल या हौसला नाम की चीज़ ही नहीं है। फिर किसने तुम्हारा हाथ पकड़ कर तुमसे छुरी चलवा दी, या पिस्तौल का घोड़ा दबा दिया? (ठहर कर, घृणापूर्वक) कायर, बुज़-दिल कहीं के। जब तुम अभी तक कांप रहे हो तो उस समय तुम्हारा क्या हाल हुआ होगा? तुम्हारे जैसे के हाथ से मरते हुए तो उस व्यक्ति को भी दुःख हुआ होगा। तुमने बेकार ही हत्या का नाम बदनाम किया है। अगर तुम्हारे हाथ खुजला रहे थे, तो तुमने कुल्हाड़ी से लकड़ी चीरना क्यों न शुरू कर दिया? बेकार एक व्यक्ति का रक्त इन टूटे हाथों से क्यों बहाया? बोलो...बोलो...न...क्या सांप सूंघ गया है?...(अधिक उत्तेजना के कारण हांफने लगता है)

पहला व्यक्ति —(अवाक् दृष्टि से नवयुवक को देख रहा है, जैसे उसे

समझ न पा रहा हो)

नवयुवक —(कुछ शांत होकर) मनुष्य...ईश्वर की सृष्टि की कितनी सुन्दर वस्तु है ! स्वयं ईश्वर को अपनी इस रचना पर अभिमान है। संसार-रूपी उपवन में वह एक सुन्दर पुष्प है, और तुमने (उत्तेजित होकर) तुमने व्यर्थ ही एक ऐसे सुन्दर पुष्प को मरोड़ दिया, एक सुन्दर खिलौने को तोड़ दिया, जिसे तुम सतत प्रयत्न करने पर भी नहीं जोड़ सकते, और वह भी निरर्थक ही। क्यों ?...आखिर क्यों ?...धिक्कार है तुमपर...सौ-सौ लानत है तुम्हारे जैसे पर। (कदाचित् अपनी उत्तेजना शांत करने के लिए पतलून की जेब से शराब का अद्धा निकाल, मुँह लगा गट-गट पीने लगता है) तुमसे, अरे तुमसे, तो मैं ही अच्छा हूँ।

पहला व्यक्ति —(सविस्मय) मैं जानता हूँ। पर तुम इसे क्यों पीते हो ? यह ख़राब चीज़ है। शरीफ़ आदमी इसे नहीं पीते।

नवयुवक —(व्यंग मुस्कान सहित) तुम जानते हो मैं कौन हूँ ?

पहला व्यक्ति —(कुछ साहस कर) नहीं, (ठहर कर) लेकिन मेरे ख़्याल से तुम एक अच्छे आदमी हो—विद्वान और हिम्मत वाले।

नवयुवक —(जोर से अट्टहास करता है—उसका अट्टहास खोखला है, बिलकुल खोखला)।

पहला व्यक्ति —(उसके चेहरे की ओर देखता हुआ) तुम ऐसा क्यों हँसते हो, तुम्हारी यह हँसी मेरा हृदय कँपा देती है।

नवयुवक —(गम्भीरतापूर्वक) क्योंकि तुमने मुझे बिलकुल गलत समझा है।

पहला व्यक्ति —(साश्चर्य) क्या ?...तुम्हें गलत समझा है ?

नवयुवक —(सिर हिलाकर) हाँ, मैं न सज्जन हूँ न विद्वान्। मैं हूँ, बदमाश, आवारा, शोहदा, जालसाज़, डाकू, खूनी, फ़रार और सब-कुछ। मैं शैतान का अवतार हूँ, दुनिया भर की बुराइयों का पुलिंदा—और ऐसे आदमी में इस झूठी हिम्मत का होना आश्चर्य की बात नहीं है।

पहला व्यक्ति —(जिसे विश्वास न हो रहा हो) तुम डाकू !....तुम खूनी !...

नवयुवक —हाँ, मैं खूनी, और फिर फ़रार !

पहला व्यक्ति —(साहसी बनते हुए) जब तुम भी खूनी हो, तुमने भी खून किया है तो फिर मुझे बुरा-भला क्यों कह रहे थे ?

नवयुवक —(रुचि-सी लेते हुए) उसका कारण है। मैंने वीरता-पूर्वक खून किया था। पता है, मैंने किसकी जान ली थी ? मैंने अपने शहर के अत्याचारी कलक्टर का सिर गोली से उड़ा दिया था। वह पापी, बहुत ही क्रूर-हृदय और राक्षस प्रकृति का था। यद्यपि ईश्वर की सृष्टि की एक उपज को नष्ट-भ्रष्ट करने का मुझे कोई अधिकार न था, तथापि उसके जीवन के काले कारनामों ने मुझे उसकी जीवन-लीला समाप्त करने पर विवश कर दिया। (एक क्षण रुककर) उस रात उसके प्राइवेट रूम में मैंने उसके पाप गिनवाये। फिर उसे उसके ईश्वर को याद करने का समय भी दिया—हालाँकि उसके जैसे पापों के याद करने से ईश्वर भी उसे याद न आया होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। एक, दो, तीन के साथ मेरे रिवाल्वर की गोलियों ने उसके भयभीत

मुख को छेद दिया। (हँसकर, हाथ झाड़ता हुआ) इस प्रकार उसका परलोक को पार्सल कर दिया गया, जिसकी कि अभी तक रसीद नहीं मिली है और न मिलेगी ही।

(अचानक पीछे से जुआरियों की गाली-गलौज की आवाज।)

पहला व्यक्ति —फिर क्या हुआ?

नवयुवक —फिर मैं एरेस्ट कर लिया गया। फाँसी की सजा होने से पहिले ही भाग निकला और अबतक पुलिस से बचा हुआ हूँ।

पहला व्यक्ति —तुम भागे क्यों?

नवयुवक —(मुस्कराने की नकल कर) क्योंकि इसकी आवश्यकता थी। घर पर कुछ इन्तजाम करना था, (दाँत पीसकर) कुछ गद्दारों से भी मिलना था और कुछ मोटी आसामियों से रुपया भी वसूल करना था।

पहला व्यक्ति —(दृढ़ता से) तुम बहादुर हो।

नवयुवक —(व्यङ्ग्य मुस्कान) बहादुर...कम-से-कम मौत से मैं तुम्हारी तरह नहीं डरता। मैंने खून किया है, इसका मुझे गर्व है। मैं जानता हूँ, इसकी सजा मुझे मौत मिलेगी। मैं हंसता हुआ फाँसी के तख्ते पर जा खड़ा होऊँगा। मेरे सोचे हुए सब काम पूरे हो गये हैं। अब तो मैं हमेशा परलोक के माइलेज गिनता रहता हूँ। किसी भी रोज़ मौका देख मैं अपने को पकड़वा दूँगा—किसी को मेरी गिरफ्तारी का इनाम तो मिल जायगा। लुक-छिप कर जीना, हमेशा खतरे में रहना, चूहे-जैसी जिन्दगी से मैं नफ़रत करता हूँ। (ठहर कर एक लम्बी साँस ले) और मरने में कोई गम भी नहीं है मेरे

दोस्त, सिर्फ इतना सोचता हूँ कि लोग यही कहेंगे—'अरे यह तो डाकू था, हत्यारा था, शोहदा था।'

पहला व्यक्ति —(प्रभावित स्वर में) लेकिन मैं ऐसा नहीं कहूँगा। हालांकि तुमने मुझे बहुत कोसा है, लेकिन तब भी मैंने बुरा नहीं माना है। मुझे दुःख है तुम उन परिस्थितियों को न जान सके जिन्होंने मुझे मेरी आत्मा के विरुद्ध खून करने पर विवश किया।

नवयुवक —(व्यङ्गय मुस्कान) परिस्थितियाँ ?...क्या थीं वे परिस्थितियाँ ?

पहला व्यक्ति —बी० ए० पास करने के बाद दो वर्ष बेकारी और गरीबी से टक्कर लेनी पड़ी। अकेला होता तो फिक्र न थी, लेकिन साथ में पत्नी, युवा बहन और वृद्धा माँ भी थी। बेकारी में दर-दर भटकता हुआ, काम की भीख माँगता हुआ जब मैं लाला श्यामनारायण के द्वार पर पहुँचा तो उन्होंने मुझे दो सौ रुपये उसी समय दिये और आठ सौ रुपये बाद में देने का वायदा कर मेरे हाथ में पिस्तौल पकड़ा दी। मुझे उनके धनी निःसंतान चाचा माधोनारायण की हत्या करने को कहा गया। एक बार मैं काँप उठा। हत्या!...न, यह मुझसे न होगी, किन्तु भूखे और अर्ध-नग्न परिवार का करुण चित्र फिर मेरी आँखों के सामने आ गया और पाँच दिन का भूखा मैं, अर्धविक्षिप्त अवस्था में हत्या करने को तैयार हो गया। मुझे कुछ याद नहीं, मैंने क्या किया ? केवल याद है कि श्यामनारायण से बकाया रुपया माँगने पर उसने मुझे पुलिस में देने की धमकी दी। तब मैं चैतन्य हुआ और लुकता-छिपता यहाँ आ पहुँचा और तभी आप मिले।

नवयुवक —(सक्रोध) तुमने श्यामनारायण का बताया काम पूरा किया और उसने रुपया देने से इन्कार कर दिया ? (घृणापूर्वक) बुज़दिल, भीरु, कहीं के ! तुमने पिस्तौल उस कमीने पर क्यों न खाली कर दी ? तब खुशी-खुशी अपने को पुलिस के हवाले कर देते ?

पहला व्यक्ति —(चिन्ताजनक स्वर में) लेकिन तब मेरे परिवार की क्या दशा होती ? मेरे साथ वे लोग भी तड़प-तड़प कर मर जाते !

नवयुवक —(घृणापूर्वक) और अब नहीं मरेंगे वे ?...उनका मरना ही अच्छा है। मरना तो सिर्फ एक ही बार है, लेकिन जिन्दा रहना—वह तो हजार बार मरना है !

पहला व्यक्ति —(आश्चर्यपूर्वक) तुम तो हृदयहीन हो, अति कठोर, निर्मम (सहसा) नहीं-नहीं...तुम विक्षिप्त हो ! तुम...

नवयुवक —(बात काट कर) और तुम ?...तुम क्या कम विक्षिप्त हो ? तुम भला-चङ्गा मस्तिष्क होते भी उसका उपयोग नहीं कर सकते। तुम नहीं जानते तुम्हें क्या करना है ? तुम स्वयं नहीं जानते तुम क्या कर रहे हो ? तुम्हें नहीं मालूम तुम क्या करोगे ? इसी कारण तुम दुःखी हो। तुम अपनी शक्ति को नहीं पहचान सकते न ? लेकिन...सब जानता हूँ, समझता हूँ। दुनिया का कोई भी सत्य मुझसे छिपा हुआ नहीं है, इसी कारण मैं सुखी हूँ।

पहला व्यक्ति —क्या तुम स्वयं अपनी कही हुई बातों का मतलब समझ रहे हो। मैं तो नहीं समझ पा रहा हूँ।

नवयुवक —क्यों मिस्टर, तुमने अपनी यह कहानी इस होटल के मैनेजर को तो नहीं सुनाई है ?

पहला व्यक्ति —नहीं, लेकिन मैंने उससे कह दिया है कि मैंने खून किया है।

नवयुवक —(तेज़ी से) तो उससे अब कह दो कि तुमने खून नहीं किया है। कह देना कि पहले तुमने मज़ाक किया था, सब गलत बात कही थी। समझे ?

पहला व्यक्ति —(ध्यान न देता हुआ) मैनेजर साहब...मिस्टर मैनेजर (सामने मेज़ पर की घंटी पर हाथ मारता है, जो भद्दी तरह दो-एक बार 'किर्र-किर्र...' करके रह जाती है)

(मालिक का फुर्ती से प्रवेश। वह अत्यन्त आश्चर्य से पहले व्यक्ति को देखता है।)

मालिक —(नवयुवक से) कहिये अब ले आऊँ चाय ?

नवयुवक —(लापरवाही से) रहने दीजिये चाय। यह बतलाइये कि यहां पास में कहीं फ़ोन होगा—मेरा मतलब टेलिफ़ोन ?

मालिक —टेलिफ़ोन ?...हाँ-हाँ...इसी मोड़ पर। परसराम आढ़ती की दुकान में लगा है।

नवयुवक —अच्छा, तो ठीक है। (मनुष्य की ओर मुड़) तुम यहीं बैठे रहना। मैं अभी आता हूं।

(नवयुवक का दरवाजा खोलकर बाहर प्रस्थान। मालिक भृकुटी चढ़ाये, पहले व्यक्ति के सामने आकर खड़ा होता है।)

मालिक —क्यों जी, धरे ही हो अभी तक ? गये नहीं यहां से ?

पहला व्यक्ति —(चेहरे पर मुस्कराहट लाने की चेष्टा कर) अभी से चला जाऊँ, ऐसी जल्दी क्या है ? देखा नहीं मुझे बैठे रहने को कह गये हैं यह साहब। (एक क्षण रुक) हाँ देखो, तुम चाय के लिए पूछ रहे थे, मेरे लिए ले आओ।

मालिक —(व्यंगपूर्वक) जी चाय ?...हूँ...मैंने कहा, चाय

कोतवाली में ही पीना। यहाँ चाय-वाय नहीं है। (ठहर कर) समझे नहीं ?

पहला व्यक्ति —(नकल करता हुआ) जी कोतवाली...? मैंने कहा, मुझे कोतवाली जाने की क्या जरूरत है। मैंने कुछ नहीं किया है। (ठहर कर) समझे नहीं ?

मालिक —(अचकचा कर) तुमने कुछ नहीं किया है ?...लेकिन थोड़ी देर पहले तो तुमने कहा था कि तुम खून करके आये हो !

पहला व्यक्ति —(खड़ा होकर) लेकिन अब कह रहा हूं कि मैंने कुछ नहीं किया है। खून करने की बात गलत थी। तुम्हारी जाँच की जा रही थी।

मालिक —(आप-ही-आप) जाँच की जा रही थी ?...लेकिन किस बात की ?...कुछ समझ में नहीं आता। (रुक कर) यह जरूर कोई सी० आई० डी० वाला है।

(मालिक हताश भाव से कुर्सी पर बैठ जाता है। पहला व्यक्ति चुपचाप खड़ा हुआ उसे देखता रहता है। निस्तब्धता छा जाती है। उसे भेदती हुई यकायक अंदर से जुआरियों के ठहाके की आवाज आती है। मालिक चौंकता है। पहला व्यक्ति चौंकता है। दोनों एक-दूसरे की ओर देखते हैं।

सहसा बाहर के दरवाजे के खटकने की आवाज़। नवयुवक का अंदर प्रवेश।

नवयुवक —(हाथ झाड़ता हुआ) सब काम पूरा हो गया है। कुछ बाक़ी नहीं रहा। (पहले व्यक्ति से) हाँ, अब तुम अपना यह रुपया सँभालो।

पहला व्यक्ति —(जैसे आकाश से गिरा हो) रुपया ?...

नवयुवक —(उसे आगे बोलने का अवसर न दे) हाँ रुपया, जो मैंने

अभी तुमसे लिया था, (जेब से नोट निकाल) लो गिन लो पूरे हैं तीन सौ चालीस या बयालीस।

(नवयुवक पहले व्यक्ति की जेब में नोट ठूँसता है। साथ ही पहले व्यक्ति और मालिक की अज्ञानता में उनसे छिपा कर पहले व्यक्ति की जेब से रिवाल्वर निकाल कर अपनी जेब में डाल लेता है।

फिर खामोशी छा जाती है और कुछ देर रहती है।)

पहला व्यक्ति —(सहसा, हताश स्वर में) मैं इन गुत्थियों को नहीं सुलझा पा रहा हूं।

नवयुवक —(गंभीरतापूर्वक) तुम तो मूर्ख हो। दिमाग के होते हुए भी उसका उपयोग नहीं कर सकते। लेकिन देखो, अब इस तरह काम न चलेगा। दुनिया में सीधे बन के रहोगे तो मुँह की खाओगे। तुम अपने दिमाग से काम लेना सीखो। अपने को पहचानो। जिन्दगी के रास्ते पर लड़खड़ाते और ठोकरें खाते हुए चलना...

(सहसा कुछ आदमियों के भारी पद-चापों और बूटों की चर्र-मर्र की आवाज सुनाई देती है जो दूर से जल्दी ही नजदीक-नजदीक होती जाती है। दरवाजे पर एक निर्दय खटखटाहट। मालिक कुर्सी पर उछल-सा पड़ता है।)

मालिक —(आशंकित काँपते स्वर में) कौन ?

बाहरी आवाज—(रुखाई से) दरवाजा खोलो ?

नवयुवक —(निर्विकार भाव से) दरवाजा खोल दो। पुलिस होगी।

(मालिक दरवाजा खोलने आगे बढ़ता है।)

नवयुवक —(फुर्ती से, जेब से रिवाल्वर निकाल, पहले व्यक्ति की ओर मुड़) खबरदार, जो पुलिस को एक शब्द भी

कहा। बस, खामोश रहना। कुछ न होगा। इतना घबराओ मत। (रिवाल्वर फिर जेब में डाल लेता है)

(पुलिस इंसपेक्टर और चार-पांच सिपाहियों का धड़ाके से प्रवेश। उनका कमरे में इधर-उधर नजरें दौड़ाना। एक बार झुककर मेज के नीचे देखना।)

नवयुवक —(भयभीत हो, मनुष्य को संबोधित कर) पुलिस ! धोखा ! ज़बरदस्त धोखा...आखिर तुमने पुलिस बुलवा कर मुझे पकड़वा ही दिया।

पु० इंसपेक्टर —(आगे बढ़ पहचानने की चेष्टा करता हुआ) कौन, मिस्टर वनफूल ?—हमारे फ़रार आसामी, जिनकी इतने दिन से तलाश थी, और जिनकी गिरफ़्तारी के लिए दो हजार रुपये का इनाम है।

मालिक —(चौंक कर स्वत:) दो हजार !...बाप रे !

नवयुवक —(आग्नेय नेत्रों से मनुष्य को घूरता हुआ, मानो उसे भस्म कर देगा) ट्रेटर ! कमीना ! आखिर दो हजार के इनाम के लालच में आ गया न ! मुझे बातों में उलझा अपने आप फ़ोन कर पुलिस मँगवा ली ! क्यों अब तो तसल्ली हो गई होगी ?...आखिर दो हज़ार रुपया जो इनाम मिलेगा—बड़ी बहादुरी से एक फ़रार इनामी आसामी को गिरफ्तार करवाया है।

पु० इंसपेक्टर —(पहले व्यक्ति से) अच्छा, तो आपने ही फ़ोन कर हमें इत्तला दी है और गिरफ्तारी में मदद की है ?

पहला व्यक्ति —खामोश—(भौंचक-सा नवयुवक की ओर देखता है)

नवयुवक —(दाँत पीस) अब बोलता क्यों नहीं ? क्या मुँह में ताले ठोक दिये हैं किसी ने ?...या इनाम की खुशी में बोल ही नहीं फूटता ?

पु० इंसपेक्टर —(पहले व्यक्ति से) हम आपके शुक्रगुजार हैं। आपने

गवर्नमेंट के एक बहुत बड़े दुश्मन को पकड़वाया है। आप जानते हैं, इन्होंने अपने शहर के कलक्टर का खून किया था। यही इनका जुर्म है।

नवयुवक —(फीकी हंसी हंस कर) मिस्टर इंसपेक्टर, मेरे जुर्मों को आप नहीं जानते। मैंने लाला माधोनारायण का खून भी किया है—परसों रात में। आश्चर्य न कीजिये। (जेब से रिवाल्वर निकालता हुआ) इसी रिवाल्वर से। डरिये मत, डरिये मत। आप इसका शिकार नहीं हो सकते। (खोलकर देखता हुआ) यह शायद आपके दिमाग ही की तरह ख़ाली है (इंसपेक्टर को पकड़ा देता है)

पु० इंसपेक्टर—(डरते-डरते रिवाल्वर पकड़ कर) शौक़त, मिस्टर वन-फूल के हथकड़ी लगाओ।

(एक पुलिस का सिपाही आगे बढ़कर नवयुवक के हथकड़ी भरता है ।)

पु० इंसपेक्टर—(रिवाल्वर उलट-पुलट कर देखता हुआ) ठीक है। मैं पहले से क़यास किए था कि यह किसी पुराने पापी की ही हरकत है। नहीं तो मजाल है किसी की, कि खून कर इस तरह तीन दिन मेरी नजरों से बचा रह जाय !...उड़ती चिड़िया के पर गिनता हूँ मैं !...

नवयुवक —(मुस्करा कर) अपनी तारीफ पुलिस स्टेशन के लिए थोड़ी बक़ाया रख छोड़िये। (रुककर) अब देर करने से फ़ायदा ? चलिये। मैं तैयार हूँ।

पु० इंसपेक्टर—चलिए। (पहले व्यक्ति से) आप मेहरबानी कर कल पुलिस स्टेशन पर मिलिए। वहीं बातें होंगी। (मालिक की ओर मुड़) क्यों म्याँ छेदालाल, तुम फिर ऐसे

ख़तरनाक शरीफ़ज़ादों को पनाह देने लग गए हो। शामत आ गई है, दीखती है तुम्हारी। (सिपाहियों से) चलो जी। (चलने को उद्यत होना)

मालिक —(झुककर) सलाम सरकार।

नवयुवक —(पहले व्यक्ति से) अच्छा विदा!

(पुलिस और नवयुवक चलते हैं तथा बाहर निकल जाते हैं। उनके कदमों की भारी आवाज कुछ देर तक सुनाई पड़ती है, जो धीरे-धीरे दूर होती चली जाती है। एक बेतुका-सा सन्नाटा हो जाता है और कमरे में एक अजीब ही मनहूसियत छाने लगती है।)

मालिक —(परेशानी से) यह सब क्या हो गया—स्टेज पर ड्रामे की तरह? मेरी समझ में कुछ नहीं आया। (ठहर कर, पहले व्यक्ति से) मेहरबान, मैं आपसे अपने बर्ताव की माफ़ी चाहता हूँ। मैं आपको गलत समझा था। असल में ऐसे लोगों की वजह से होटल बदनाम होता है। उफ़!...कितना ख़तरनाक था यह आदमी।... बाप रे!...डबल खूनी, आवारा, फ़रार।...(दृढ़ विश्वास से) पक्का शोहदा था यह!

पहला व्यक्ति —(जिसकी आँखों में अनायास ही आँसू भर आये हैं, रुंधे स्वर से) हाँ, पक्का शोहदा था यह!

(परदा गिरता है)

विष्णु प्रभाकर

आपका जन्म १२ जून १६१२ को मुजफ्फरनगर जिले के मीरापुर कस्बे में हुआ था। लेकिन बचपन में ही पंजाब चले जाने के कारण आपकी शिक्षा-दीक्षा वहीं हुई। सन् १६४४ तक एक सरकारी फार्म पर नौकरी करते रहे। उसके बाद दिल्ली आ बसे और स्वतन्त्र रूप से लेखन का काम करने लगे।

आप नाटककार होने के अतिरिक्त उपन्यास-लेखक, कथाकार तथा रेखा-चित्र-प्रणेता भी हैं। आपका रचनाकाल तो सन् १६३१ से शुरू होता है; पर आपका सबसे पहला नाटक 'हत्या के बाद' सन् १६३६ में लिखा गया था और 'हंस' में प्रकाशित हुआ था। "इधर आपकी कला में अभूतपूर्व निखार आ गया है। यथार्थ की अपेक्षा आप आदर्शोन्मुख हैं। मानव-प्रवृत्तियों का विश्लेषण करके उनमें आध्यात्मिक पुट देना आपकी अपनी विशेषता है।"—(उपेन्द्रनाथ 'अश्क') "आपके साहित्य की मूलात्मा आपका सहज मानव-गुण है।"—(डा० नगेन्द्र)

आपको भाषा पर अधिकार है और आपकी शैली में गति है। रेडियो नाटकों के क्षेत्र में आपको विशेष सफलता मिली है।

रक्त-चंदन

●

पात्र-परिचय

पहला कबायली		
दूसरा कबायली		
तीसरा कबायली		
राधाकृष्ण	:	काश्मीर का एक हिन्दू
गुल	:	काश्मीर का एक मुसलमान। राष्ट्रीय कान्फ्रेंस का सैनिक
गौरी	:	राधाकृष्ण की लड़की
सोमनाथ सादिक	:	किसान के वेश में दो काश्मीरी

समय....युद्धकालीन काश्मीर १९४७ का अक्तूबर मास

[स्टेज पर हल्का प्रकाश.. चारों ओर टूटे मकानों का ढेर...ईंट, पत्थर, लकड़ी के दरवाजे और सामान...सामने एक मकान की दीवार है जिसका दरवाजा बन्द है। खिड़की कई बार आहिस्ता-आहिस्ता खुलती है और बन्द होती है। उसी के साथ प्रकाश घटता-बढ़ता है। प्रकाश के साथ स्वर भी उभरते हैं और उनके सहारे कुछ शक्लें भी उभरती हैं। कहीं दूर खटका होता है, गोली चलती है और खिड़की पर से मूर्तियां भूत की तरह गायब हो जाती हैं। कुछ क्षण सन्नाटा रहता है। फिर दरवाजा खुलता है और तीन मूर्तियां धीरे-धीरे बाहर आती हैं। तीनों पुरुष हैं। वे चारों ओर देखते हैं फिर धीरे-धीरे बातें करते हैं।]

गुल —अभी कोई डर नहीं है। मैंने उन्हें ऐसा उल्लू बनाया है कि वे कम-से-कम दो-तीन घण्टे इधर आने की बात नहीं सोच सकते। साले कहीं औरतों की तलाश में घूम रहे होंगे।

सोमनाथ —तुम ठीक कहते हो। वे कुछ नहीं चाहते, न ज़र, न ज़मीन। वे तो औरत चाहते हैं औरत। उन्होंने ...उन्होंने...(स्वर भर्रा जाता है।)

गुल —हिम्मत सोमनाथ! हिम्मत से काम लो।

(उसे हाथ से पकड़ता है।)

सोमनाथ —मैं समझता हूं गुल! सब कुछ समझता हूं। सब कुछ देखता हूं लेकिन मैं क्या करूँ? रह-रहकर मेरी बीवी का चेहरा मेरी आंखों में उभर आता है। रह-रहकर जैसे वह मेरे कानों में कह जाती है... 'ज़िंदगी भर तुमने मेरी रक्षा करने की कसम खाई थी, लेकिन उस दिन तुम्हारे देखते-देखते वे जालिम

लुटेरे मुझे उठा कर ले गए।' (भावावेश) आह गुल! (अवकाश) वह देखो वह मेरी बीवी मुझे देख रही है। उसकी वे आँखें...वे आँखें...

गुल —वे आँखें! वे आँखें ही तुम्हारी ताकत बनेंगी, सोमनाथ! वे तुम्हारी बीवी की आँखें नहीं हैं। वे तुम्हारे वतन की आँखें हैं। तुम्हारे खूबसूरत वतन की खूबसूरत आँखें जो आज तुम्हें खून से खेलने को पुकार रही हैं।

सादिक —खून से नहीं जिंदगी से कहो, गुल। आज मेरे वतन की जिंदगी मोर्चे पर डटी हुई है।

सोमनाथ —और उसी जिंदगी को ये लुटेरे पैरों तले रौंद डालना चाहते हैं।

सादिक —लेकिन जिंदगी उन्हें रौंद डालेगी, सोमनाथ। वह साँप की तरह है जो ठुकराने वाले को डस कर ही छोड़ता है।

सोमनाथ —मुझे यकीन है। मुझे यकीन है। मैं डरता नहीं। तुम लोग अपने मन में कुछ और न सोच बैठना। मैं पूरी तरह तैयार हूँ।

गुल —मैं जानता हूँ, सोमनाथ! तुम्हें डरने की कोई जरूरत नहीं है। जो वतन की राह में मिट जाते हैं आने वाली नस्लें उनके कदमों के निशानों को चूमा करती हैं।

सादिक —और तवारीख उनकी शोहरत का डंका पीटती है।

सोमनाथ —मैं यह सब कुछ नहीं जानता। मैं तो इतना ही जानता हूँ कि यह आजादी की लड़ाई है। मेरी बीवी उसके लिए मिट गई। मैं भी मिट जाना चाहता हूँ; लेकिन उन्हें यह बताकर कि किसी की

आज़ादी पर हमला करना अपनी जिन्दगी पर हमला करना है।

सादिक —और अपनी जिन्दगी पर हमला करने का मतलब है मौत!

गुल —बेशक उन्हें मौत मिलेगी, एक बुज़दिल इन्सान की मौत।

सोमनाथ —बेशक वे बुज़दिल हैं। हमलावर हमेशा बुज़दिल होता है।

(उन्हें जोश आ जाता है। स्वर तीव्र हो उठते हैं। तभी दरवाज़ा फिर खुलता है। एक सिर दिखाई देता है।)

राधाकृष्ण —शी शी शी...तुम लोग क्या कर रहे हो?

गुल —(एकदम) ओह...कोई बात नहीं। हम जा रहे हैं। जब चारों तरफ आग बरसती हो तो खून में जोश आ ही जाता है। अच्छा सोमनाथ, तुम जा सकते हो। और तुम भी सादिक। याद रखना हिम्मत न टूटने पावे। फौज आने वाली है।

सोमनाथ —तुम यक़ीन रखो। यह हमारी आज़ादी की लड़ाई है, गुल। इसे फौजें नहीं लड़ेंगी, हम लड़ेंगे।

सादिक —बेशक हम लड़ेंगे। हम तैयार हैं। हमारा खून झरनों की तरह मचल-मचल कर बह उठने को आतुर है।

सोमनाथ —और हमारी जिन्दगियाँ चिनार के लाल अंगार पत्तों की तरह मादरे वतन को ढक लेना चाहती हैं।

राधाकृष्ण —फिर वही जोश। फिर वही बातें। तम लोग जाते क्यों नहीं?

सादिक —(एकदम) ठीक है राधाकृष्ण। आदाबअर्ज, मैं

	चला।
सोमनाथ	—और मैं भी। आदाबअर्ज गुल, आदाबअर्ज राधाकृष्ण।
	(दोनों एकदम मुड़ते हैं)
राधाकृष्ण	—आदाबअर्ज।
गुल	—आदाबअर्ज सोमनाथ। आदाबअर्ज सादिक।
	(दोनों आगे बढ़कर बाहर हो जाते हैं। एक क्षण सन्नाटा रहता है। फिर गुल मुड़ता है।)
गुल	—अच्छा काका, मैं भी चला।
राधाकृष्ण	—हाँ, तुम्हें भी जाना चाहिए। चाँद छिप चुका है। और गौरी का ध्यान रखना। उसे श्रीनगर पहुँचाना ही होगा ; नहीं तो...
गुल	—(एकदम) कुछ नहीं, काका। तुम फिक्र मत करो। मैं कुछ-न-कुछ करके लौटूंगा। अच्छा, मैं जा रहा हूँ ; होशियार रहना। डरना मत। जल्दी वापस आऊँगा।
राधाकृष्ण	—अच्छा। देखकर जाना और गौरी का ध्यान रखना।
गुल	—ज़रूर, ज़रूर।
	(गुल जाता है। शब्द दूर होकर मिटते हैं। राधाकृष्ण कुछ क्षण उस ओर देखता रहता है जिधर गुल गया है। उसी बीच में खिड़की धीरे-धीरे खुलती है। एक कुमारी का सिर धीरे-धीरे सामने आता है। प्रकाश इतना धुंधला है कि स्पष्ट कुछ नहीं दिखाई देता। पर वह एक कुमारी का मुख है, उस कुमारी का जो भयातुर है। वह जैसे ही आगे झुकना चाहती है, वैसे 'खट' ऐसा शब्द होता है। राधाकृष्ण चौंकता है।)
राधाकृष्ण	—कौन ?

गौरी —(भयातुर) कोई नहीं।

राधाकृष्ण —गौरी !

गौरी —काका।

राधाकृष्ण —(अन्दर जाता हुआ द्वार बन्द करता है और खिड़की के पास आता है) तुम क्यों आ गई ?

गौरी —वैसे ही देख रही थी, काका। वे लोग गए।

राधाकृष्ण —हां बेटी, वे गए। हम भी अब जानेवाले हैं।

गौरी —हां, काका। चलो, बड़ा डर लगता है।

(सहसा कहीं शोर उठता है ! गोली चलती है ! वे दोनों कांपते हैं !)

राधाकृष्ण —यह क्या ? फिर गोली चली ! चलो, चलो, गौरी।

गौरी —(भयातुर) काका।

(गौरी एकदम राधाकृष्ण से चिपट जाती है। वह शीघ्रता से उसे थामता है और खिड़की बन्द करता है। शोर पास आता है और स्पष्ट होता है। वही गंदी गालियां, वीभत्स हँसी। कुछ ही क्षण में कई कबायली वर्दियां पहने और हथियारों से लैस स्टेज पर प्रवेश करते हैं। उनकी चाल बताती है कि वे नशे में चूर हैं। उन्होंने घास के जूते पहने हैं। वे शब्द नहीं करते, पर उनका अपना स्वर उसकी पूर्ति के लिए काफी है। उन्होंने बन्दूकें सम्भाली हैं। वे बेतहाशा पागलों की तरह हँसते हैं और गाली देते हैं।)

पहला कबायली—(अट्टहास)--खाँ, वहाँ तो कोई नई मिला। साला काफिर हमको फिर धोका दिया। कहाँ है वह ? हम उसको अबी जान से मार डालेगा।

(बन्दूक तानता है)

दूसरा कबायली—(और भी जोर से)—ओय, ओय, ओय, उधर क्या है ? उधर जला हुआ मकान है ।

पहला —(उसी तरह) वही, वही, हम उसी को मारेगा। उसने धोका दिया, औरत नहीं दिया। खों, तुमने इधर औरत देखा है। कम्बख्त ये काफिर लोग कहां से रुपया लाता है ? कहाँ से औरत पैदा करता है ?

दूसरा —मालूम होता है काफिर लोग खुदा के मुंशी को रिश्वत देता है ।

पहला —क्या ? तुमने क्या बोला। खुदा को रिश्वत ! खुदा को रिश्वत...नेई, नेई तुम झूठ बोलता है। खुदा रिश्वत नेई मांग सकता। तुम-वी काफिर है, साला काफिर। हम तुमको बी मारेगा, अबी मारेगा।

(बन्दूक तानता है। तीसरा कबायली प्रवेश करता है।)

तीसरा —किसको मारेगा ? कौन है इधर ? तुम लोग इधर क्या कर रहा है ? उधर क्यों नहीं जाता ? (हँसकर) एक मौलवी ने कुरान में सौ-सौ का नोट छिपाया है।

पहला —सौ-सौ का नोट ! क्या नोट औरत होता है ? खूबसूरत औरत...(अट्टहास)।

दूसरा —खूबसूरत औरत ! ! खूबसूरत औरत कहाँ है ? हम औरत माँगता है ।

तीसरा —तुमको औरत मिलेगा, तीन औरत, मौलवी के घर में तीन परीजादियाँ हैं (हँसकर) तीन परीजादियाँ। खों, हम बी तीन। वो बी तीन।

दूसरा —(नाचता हुआ)। हम-बी तीन, वो बी तीन, ओ ओ ओ हम-बी तीन, वो बी तीन।

पहला —वो-वो तीन...तीन...तीन औरत...तीन खूबसूरत औरत ।

तीसरा —(उसी मस्ती में) ऐ, ऐ नाचता है ! चलता क्यों नहीं ? बहोत खूबसूरत औरत है। बहोत खूबसूरत ! हा, हा, हा, तीन खूबसूरत औरत और तीन सौ-सौ का नोट । यहां न औरत है न दौलत । चलो-चलो । उधर सब कुछ है । (नाटकीय ढंग से) ज़र है, जन्नत की हूर है, तीन सौ-सौ का नोट, तीन खूबसूरत परीजादियां ! (हँसता है) ।

पहला —(अट्टहास)....चलो, चलो, उधर ही चलो । (जाता है) ।

दूसरा —हाँ, हाँ, जन्नत में चलो । वहां हूर हैं, हूर....(जाता है) ।

(तीनों नाचते-गाते जाते हैं । पहला फिर लौटता है और बन्दूक उठाकर मकान को लक्ष्य कर के गोली दाग देता है। गहरा स्वर उठता है । फिर डूबने लगता है । कुछ क्षण गूँज उठती रहती है, फिर सन्नाटा छा जाता है। कई क्षण बाद खिड़की फिर खुलने लगती है। राधाकृष्ण का सिर उभरता है। उसकी गति बताती है कि वह चौकन्ना है। उसके साथ गौरी का सिर भी सामने आता है। तनिक-सी आहट पर वह पीछे हट जाता है। वह डरी हुई हिरनी की भांति चौकन्नी है। दोनों धीरे-धीरे बातें करने लगते हैं।)

गौरी —काका ।

राधाकृष्ण —हाँ ।

गौरी —गए ?

राधाकृष्ण —हाँ, गए मालूम होते हैं ।

गौरी —फिर तो नहीं आयेंगे ?

राधाकृष्ण —क्या पता, बेटी। शहर पर इन्हींका कब्जा है। जब चाहे आ सकते हैं।

गौरी —पर काका, गुल भइया तो कहते थे कि वे शायद आज रात इधर नहीं आयेंगे।

राधाकृष्ण —कहता तो था। उसने कोशिश भी की थी और मुझे तो ऐसा लगता है कि यह जो तीसरा कबायली आया था, यह कोई गुल का भेजा हुआ भेदिया था।

गौरी —भेदिया क्या, काका ?

राधाकृष्ण —कोई अपना आदमी कबायली का वेश बनाकर धोखे से उन्हें कहीं और ले गया है।

गौरी —सच ?

राधाकृष्ण —लगता तो ऐसा ही है।

गौरी —पर काका, ये लोग ऐसे क्यों हैं ! क्यों आग लगाते हैं ? क्यों लूटते हैं ? क्यों मारते हैं ?

राधाकृष्ण —ये राक्षस हैं, बेटी। इनका स्वभाव ही ऐसा है।

गौरी —ये राक्षस हैं ? नहीं काका। ये तो आदमी हैं। इन्हें देखकर डर तो लगता है, पर हैं तो आदमी ही।

राधाकृष्ण —डर लगता है; तभी उन्हें राक्षस कहते हैं, बेटी।

गौरी —डर तो बहुत लगता है, काका। (अवकाश) काका ! मुझे माँ के पास कब ले चलोगे ?

राधाकृष्ण —(अपने आप से)—काश कि बेटी, तू भी अपनी माँ के साथ श्रीनगर चली जाती।

गौरी —क्यों काका ! बोलते क्यों नहीं ? कब चलोगे ?

राधाकृष्ण —कब चलोगे ? बस अब चलेंगे ही। गुल इसी बात का इन्तजाम करने गया है। आज हमें यहाँ से चले जाना है। कुछ भी हो।

गौरी —सच काका ! तब तो बड़ा अच्छा रहेगा। रास्ते में कुछ गड़बड़ तो नहीं है ?

राधाकृष्ण —नहीं बेटी। आगे सब ठीक है। श्रीनगर से हमारी फौजें चल पड़ी हैं।

गौरी —तो श्रीनगर चलेंगे। ओह, यहाँ तो बड़ा डर लगता है। वहाँ मां होंगी, दादी होंगी, भइया होंगे। कैसा अच्छा ? क्यों काका, गुल भइया कब आवेंगे ?

राधाकृष्ण —(खोया-खोया-सा) बस आने ही वाला है।

गौरी —काका, गुल भइया बहुत अच्छे हैं।

राधाकृष्ण —(उसी प्रकार) अच्छा; वह फरिश्ता है, फरिश्ता। वह हमारा सहारा है। हमारे जैसे हजारों बदनसीबों का सहारा है। भगवान ! तुम उसकी रक्षा करना। कहीं उसे कुछ न हो...कहीं उसे कुछ न हो... नहीं तो...नहीं तो...

(राधाकृष्ण भावावेश में खोने लगते हैं : गौरी उन्हें देखती है।)

गौरी —(एकदम) काका !

राधाकृष्ण —(चौंक कर) हाँ बेटी !

गौरी —काका तुम चुप क्यों हो जाते हो ? मुझे डर लगता है। देखो चाँद भी छिप गया। बाहर कैसा अँधेरा है ? मुझे यहां से ले चलो।

राधाकृष्ण —बस, अब चलेंगे। आओ अन्दर बैठें। यहां कोई आ सकता है। आओ...

(राधाकृष्ण गौरी को ऐसे पकड़ते हैं जैसे अपने में समेट लेंगे और अन्दर की ओर मुड़ना चाहते हैं।)

गौरी —क्यों काका, गुल भइया भी चलेंगे ?

राधाकृष्ण —वह कैसे जा सकता है ? यह उसका मकान है।

वह यहां नहीं रहा तो...

(कहते-कहते वे खिड़की बन्द करना चाहते हैं कि बाहर खटका होता है, वे चौंकते हैं)

राधाकृष्ण —कौन ?

(गुल स्टेज पर प्रवेश करता है। उसके पास एक छोटी-सी गठरी है।)

गुल —मैं था, काका।

राधाकृष्ण —(हर्ष से) तुम आ गये गुल।

(खिड़की से हटकर किवाड़ खोलता है, गुल अन्दर आता है, दोनों खिड़की पर आते हैं। गौरी गुल के पास आती है। वह बहुत प्रसन्न है।)

गौरी —तुम आ गये, भइया! कब चलोगे?

(गुल कुछ अनमना-सा है। मुस्कराना चाह कर भी मुख पर प्रसन्नता नहीं आ पाती।)

गुल —बस, अभी कुछ देर में चलेंगे!

राधाकृष्ण —गौरी! देखो तो बेटी समावार में पानी है?

गौरी —हां, है। चाय पियोगे?

राधाकृष्ण —हां, गुल को चाय की जरूरत है।

गौरी —अभी बनाती हूँ।

(गौरी जाती है। राधाकृष्ण गुल को देखता है।)

राधाकृष्ण —क्या खबर है?

गुल —खबर खराब है।

राधाकृष्ण —(चिंता) खराब?

गुल —हां काका। खबर बहुत खराब है। उन लोगों ने गांव के गांव तबाह कर दिये हैं। वे बेगुनाह इंसानों की जिंदगी पर मौत बरसा रहे हैं। उनके नापाक इरादे औरतों की अस्मत को बरबाद कर रहे हैं।

वे जमीन नहीं चाहते।

राधाकृष्ण —वे जमीन नहीं चाहते, ज़र चाहते हैं? और...जाने दो। वह सब तो मैं भी जानता हूँ। पर सवाल यह है कि क्या किसी तरह गौरी को यहाँ से निकाला जा सकता है? उसे डर लगता है।

गुल —उसे डर लगता है? उसका डरना ठीक है। हैवान से आदमी नहीं डरता; लेकिन जब इन्सान हैवान बन जाता है तो उससे बहुत डरा ही जाता है।

राधाकृष्ण —ठीक है गुल। पर गौरी के जाने के बारे में कुछ हुआ क्या?

गुल —हां, काका।

राधाकृष्ण —(एक दम प्रसन्न) सच?

गुल —सच काका। दुनिया की कोई भी ताक़त उसे यहां से जाने से नहीं रोक सकती।

राधाकृष्ण —(कुछ चौंकता तो है पर प्रसन्न होकर कहता है) गुल, तुम बहोत अच्छे हो। तुम्हारी वजह से गौरी अबतक बची रही है, नहीं तो...

गुल —(हँसकर) ठीक है काका। उस बात की चर्चा क्यों करते हो पर (एकदम फिर खोया-सा हो जाता है) कैसी दुनिया है यह? कैसा निजाम है उसका? (हँसता है)

राधाकृष्ण —गुल!

गुल —काका!

राधाकृष्ण —हालत कुछ बहुत खराब है? क्या हमारी फौजें नहीं आईं?

गुल —आने वाली हैं।

राधाकृष्ण —तो क्या वे लोग कुछ कर रहे हैं?

गुल —कुछ नहीं, काका। उनका कोई डर नहीं है। वे इस वक्त भी आ जायं, तो गौरी उन्हें नहीं मिल सकती।

राधाकृष्ण —(चकित-सा) क्या मतलब ? तुम करना क्या चाहते हो ?

गुल —(मुँह पर उँगली रखता है) आहिस्ता। आहिस्ता बोलो, काका। दीवारें टूट चुकी हैं। हवा से अब कोई परदा नहीं है।

राधाकृष्ण —(धीरे से) ठीक है। मुझे बताओ, मैं क्या करूँ ?

गुल —(पोटली देता है) लो, यह लो। इसमें सिलवार, कुल्ला, कुरता और जूते हैं।

(राधाकृष्ण एकदम पोटली खोलता है और एक-एक चीज को देखता है।)

राधाकृष्ण —(प्रसन्न होकर) ओ हो! ये सब तो उन जैसे हैं। खूब! इन्हें पहन कर मैं बिलकुल कबायली लगूंगा। बिलकुल।

गुल —और उन जैसे बनकर उसकी हद से बाहर हो जाओगे।

राधाकृष्ण —हाँ, मैं तो हो जाऊंगा; लेकिन गौरी कैसे करेगी ?

गुल —गौरी के लिए भी मैं सब सामान ले आया हूं।

राधाकृष्ण —क्या लाए हो ? देखूँ, कहां है ?

(गुल जेब में से एक शीशी निकाल कर आगे बढ़ाता है)

गुल —यह है।

राधाकृष्ण —(चौंककर) यह क्या...यह तो शीशी है। (हंसकर) इसमें क्या जादू की दवा है ?

गुल —(गम्भीर स्वर में) हां काका, इसमें जादू की दवा

है। इसे पीकर आदमी ऐसा गायब होता है कि लाख कोशिश करने पर भी उसे कोई नहीं पा सकता।

राधाकृष्ण —(ठगा-सा) सच...?

गुल —(बरबस हंसकर) लो देखो! तुम तो पढ़ना जानते हो।

राधाकृष्ण —(शीशी को रोशनी के पास ले जाता है, पढ़कर कांप उठता है) क्या, क्या...यह तो...यह तो ज़हर है। क्या तुम गौरी को जहर देना चाहते हो?

गुल —(ढीला स्वर) काका!

राधाकृष्ण —(भयातुर) गुल! गौरी को ज़हर देना होगा—गौरी को ज़हर...

गुल —काका! और कोई रास्ता नहीं, कोई रास्ता नहीं। होता तो काका; मैं...काश कि मैं अपनी जान देकर भी गौरी को बचा पाता!

राधाकृष्ण —(रुँधा हुआ स्वर) गौरी को ज़हर...गौरी को ज़हर, नहीं...नहीं...

गुल —(उसी तरह)...काका, मैं उसे नहीं बचा सकता; लेकिन उसे बेइज्जत होते भी नहीं देख सकता। इज्जत जिन्दगी से बहुत कीमती होती है, काका! बहुत कीमती।

राधाकृष्ण —(रोता है) लेकिन गुल...गुल...

गुल —रोते हो, काका! तुम्हारा रोना ठीक है, औलाद की मोहब्बत रुलाती है, लेकिन काका! अब तुम रोते हो; पर जब तुम अपनी औलाद की इज्जत अपनी आँखों के सामने इन खूंखार वहशी डाकुओं के हाथों लुटते देखोगे तब क्या करोगे?

(गुल को जोश आता है। उसका धीमा पर आवेश-पूर्ण स्वर गहरी गूंज पैदा करता है। राधाकृष्ण फूट-फूट कर रोता रहता है। बोलता नहीं। सहसा गौरी के आने का स्वर उठता है। दोनों चौंकते हैं।)

गुल —काका ! गौरी आ रही है। उसे अपने आँसू मत दिखाओ।

राधाकृष्ण —गुल...गुल ! (राधाकृष्ण एकदम सीधा होकर आंसू पोंछता है। गौरी पास आती है।)

गुल —गौरी ! तुम बहुत अच्छी हो। मुझे इस वक्त चाय की बड़ी जरूरत थी। बहुत थक रहा हूँ।

गौरी —ली लो, चाय पियो। बहुत है।

गुल —काका के लिए भी है ?

गौरी —हां।

गुल —और गौरी के लिए भी !

गौरी —(हंसकर) मैं तो पी चुकी।

गुल —तो क्या हुआ ! अब हमारे साथ पियो। मैं तुम्हारे लिए बाकरखानी लाया हूँ।

गौरी —(बालोचित सरलता से) कहाँ है ?

(जेब में से निकालता है)

गुल —लो यह एक ही मिली है, तुम खालो।

गौरी —और तुम ?

गुल —मैं तो खा चुका।

गौरी —काका नहीं खायेंगे ? (राधाकृष्ण से) काका आधी तुम लो।

राधाकृष्ण —(बहुत सम्हल कर बोलता है पर स्वर भर्राया हुआ है।) तुम्हीं खाओ, बेटी। मेरे पेट में दर्द है।

गौरी —नहीं, काका तुम भी लो। पेट का दर्द ठीक हो जायगा। हमें चलना भी तो है। कैसी अंधेरी रात है? चांद भी तो छिप गया।

गुल —अच्छा हुआ जो छिप गया। वह हमारी मुसीबत को जानता है। अंधेरे में हमें कोई नहीं देखेगा।

गौरी —पर मुझे तो डर लगता है।

गुल —डर की दवा तुम्हारे काका के पास है।

गौरी —सच? डर की भी कोई दवा होती है?

गुल —हां, होती है। पर तुम पहले चाय तो दो।

गौरी —ओ हो, वह तो मैं भूल ही गई थी।

(प्याले में चाय उँडेलती है। प्याले फूटे हैं)

गौरी —प्याले भी तो फोड़ गए।

गुल —उन्हें फोड़ना ही आता है। वे जोड़ना नहीं जानते।

गौरी —(प्याला देती हुई) ऐसा कबतक रहेगा भइया?

गुल —(घूंट भरता हुआ) बस, अब सवेरा हुआ ही चाहता है। सुना है हमारी फौजें चल पड़ी हैं। इधर हम लोग भी तैयार हैं।]

गौरी —(राधाकृष्ण को प्याला देती हुई) लो काका। (गुल की ओर मुड़कर) तुम भी लड़ोगे।

गुल —अब तो सबको लड़ना होगा।

गौरी —पर मुझे डर लगता है।

गुल —(हंसकर) तुम अभी छोटी हो। पर तुम्हारे डर की दवा ले आया हूँ।

गौरी —(हंसकर) ओ हो! वह तो मैं भूल ही गई थी। काका, दो न, कौनसी दवा है!

राधाकृष्ण —(कांप उठता है। प्याला हाथ से छूट जाता है) क्या...

गौरी —(एक दम) काका, तुम्हारी चाय बिखर गई।

राधाकृष्ण —(रुंधा स्वर) बिखर जाने दो। मेरे पेट में दर्द कुछ तेज हो रहा है, गौरी। ओह...ओह...

(राधाकृष्ण का मुँह बुरी तरह विकृत हो जाता है। आँखों में आंसू भर आते हैं। गौरी पास आकर हाथ पकड़ती है।)

गुल —(गंभीर अर्थ-भरा स्वर) काका! पेट के दर्द को ठीक कर लो। हमें भी चलना है, देर हो गई तो वे लोग आ सकते हैं। इस बार उन्हें धोखा नहीं दिया जा सकता।

राधाकृष्ण —(संभलता हुआ) ठीक है। मैं ठीक हूँ, गुल। मैं चलूंगा। अभी चलूंगा।

गुल —तो गौरी को उसकी दवा दे दो।

राधाकृष्ण —गुल...अभी देता हूँ। चाय पी लूँ। बेटी, चाय और है?

गौरी —है काका?

राधाकृष्ण —तो दो न। बाकरखानी भी दो।

गौरी —(चाय उंडेलती है, बाकरखानी देती है।) लो काका। और फिर मुझे दवा दो।

राधाकृष्ण —अभी देता हूँ। (बाकरखानी का टुकड़ा गौरी के मुँह में देता है।) लो खाओ।

गौरी —(भरा मुंह) काका, मैं तो खा ही रही थी।

गुल —पर काका के हाथ से कहां खाया था। (हंसता है।)

गौरी —(हंसती है)...अच्छा काका। दवा तो दो। फिर चलें।

गुल —हां, दो काका। गौरी को चलने का बड़ा चाव है। ठीक भी है, बेचारी अपनी मां से मिलेगी।

गौरी —और दादी से; भइया से।

गुल —हाँ सबसे मिलना। काका अब दवा दे दो; जल्दी करो।

राधाकृष्ण —(शीघ्रता से) लो गुल तुम दे दो। मैं तनिक अन्दर देखलूँ।

(शीशी देता है। हाथ कांपता है।)

गुल —(शीशी लेकर) हाँ, काका तुम जरूरी सामान बटोर लो। लो गौरी; यह दवा आँख मीच कर पी लो।

(राधाकृष्ण लड़खड़ाता है पर रुकता नहीं। गौरी दवा की शीशी हाथ में लेती है।

गौरी —आंख मीचने की क्या जरूरत है। क्या कड़वी है।

गुल —नहीं।

गौरी —तो लो मैं ऐसे ही पी जाती हूँ। (शीशी खोलकर मुंह से लगाती है।) देखो।

(दवा मुंह में जाती है। चेहरा विकृत होता है। देखते-देखते गौरी छटपटाने लगती है और पीछे को गिर पड़ती है। मुंह से अस्फुट स्वर निकलता है) का...

(गुल एकदम पुकारता है)

गुल —गौरी...

(राधाकृष्ण दौड़े आते हैं)

राधाकृष्ण —(रोते हुए) गौरी...गौरी...इ-ही ही ही।

(फूट-फूट कर रोता है)

गुल —(रुंधा स्वर) काका...काका....तसल्ली...

राधाकृष्ण —(चीत्कार करता हुआ) गौरी....गौरी...मेरी बेटी। गौरी, तू तो अभी बोल रही थी बेटी। तू इतनी देर

में कहां चली गई। गुल,

गुल —(गम्भीर स्वर) वह भगवान के पास चली गई है काका। वहां उसकी खूबसूरती और अस्मत का कोई मोल-तोल करने वाला नहीं होगा। गौरी खुश-किस्मत थी, काका बहुत खुश-किस्मत...

राधाकृष्ण —(रोता हुआ) गुल....गुल। तुम कुछ नहीं जानते। मैं उसकी माँ को क्या जवाब दूंगा! जब वह पूछेगी, मेरी बेटी को कहाँ छोड़ आये, तो क्या कहूँगा! बताओ क्या कहूँगा?

गुल —अब कहने की क्या बात है? कहना तो तब मुश्किल होता जब अस्मत के वे लुटेरे उसे उठा कर ले जाते। तुम्हारी बेटी की जान चली गई, काका लेकिन जान से प्यारी अस्मत नहीं गई।

राधाकृष्ण —(कुछ सम्भलकर) गुल, गुल....(सुबककर) मैं बाप हूँ, गौरी का बाप।

गुल —जानता हूँ काका। तुम बहादुर बेटी के बहादुर बाप हो। तुमने अपनी बेटी की अस्मत ही नहीं बचाई, तुमने दुश्मन की आँखों में धूल झोंकी है, लुटेरों के मन्सूबों पर पानी फेरा है, वतन के दुश्मनों से वतन की आबरू को बचाया है।

राधाकृष्ण —(चकित-सा ऊपर को मुंह उठाता है) गुल....गुल.... तुम क्या कह रहे हो?

गुल —ठीक कह रहा हूँ काका! उठो और वतन पर जान कुर्बान करने वाली बेटी को आग के सुपुर्द करो।

(कहीं गोली चलती है, शोर उठता है)

राधाकृष्ण —(कांप कर) वे फिर आ गये गुल! वे फिर आगए।

गुल —कोई डर नहीं, अब कोई डर नहीं, काका। हम तैयार

है, लो उठो। गौरी को अन्दर ले चलो।

(क्षणिक सन्नाटा, फिर शोर, राधाकृष्ण का काँपना)

गुल —उठो काका! वे आगए तो....

राधाकृष्ण —(उठता हुआ) नहीं, नहीं, गुल। जो इसे जीते जो नहीं छू सके, वे मरने पर भी नहीं छू सकेंगे। (कण्ठ रुक जाता है।) कभी नहीं छू सकेंगे।

गुल —तुम बहादुर हो काका। बहादुर बेटी के बहादुर बाप।

(दोनों गौरी को उठा ले जाते हैं। शोर पास आता जाता है। खिड़की-द्वार दोनों बन्द होते हैं। गोलियों का शोर उठता है। फिर गोली चलने लगती है। चलती रहती है। परदा गिर जाता है। गिरते-गिरते कबायलियों के पैर स्टेज पर दिखाई देने लगते हैं।)

श्री जगदीशचन्द्र माथुर

आपका जन्म १६ जुलाई, १९१७ को हुआ। आपका रचना-काल सन् १९२९ से प्रारम्भ होता है। आपके प्रथम एकांकी 'मेरी बांसुरी' का सन् १९३६ में म्योर होस्टल में अभिनय एवं 'सरस्वती' में प्रकाशन हुआ। आपने सन् १९३७ से १९४३ के बीच कई एकांकी नाटक लिखे और उनका अभिनय कराया। इनमें से पांच का संग्रह 'भोर का तारा' सन् १९४६ में प्रकाशित हुआ जो आपको सफल एकांकी नाटककारों की प्रथम कोटि में स्थान दिलाने के लिए पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त आपका पूरा नाटक 'कोणार्क' प्रकाशित हो चुका है। 'कुंवरसिंह' और 'पांच नटखट नाटक' भी लगभग तैयार हैं। आजकल आप लोक रंगमंच के लिए कुछ सामग्री तैयार करने में संलग्न हैं और कुछ घुमंतू नाट्य मंडलियों की स्थापना भी कर चुके हैं।

आपने सन् १९४४ में बिहार के सुप्रसिद्ध सांस्कृतिक पर्व वैशाली महोत्सव का बीजारोपण किया। उसी सम्बन्ध में सन् १९४७ में वैशाली अभिनन्दन-ग्रंथ नामक विद्वत्तापूर्ण संग्रह-ग्रंथ का संपादन भी किया।

सरकारी जीवन में आप इण्डियन सिविल सर्विस के अधिकारी हैं और १९४९ ई० से बिहार राज्य के शिक्षा सचिव के पद पर काम कर रहे हैं।

आपकी कला में कवित्व और यथार्थ दोनों का समावेश है और इसलिए उसका आदर्श पकड़ से बाहर नहीं है। आप मानव-आत्मा के शिल्पी हैं। आपकी शैली सरस, भाषा मंजी हुई, मधुर और साधारण बोल-चाल की है।

रीढ़ की हड्डी

पात्र-परिचय

उमा	:	लड़की
रामस्वरूप	:	लड़की का पिता
प्रेमा	:	लड़की की मां
शंकर	:	लड़का
गोपालप्रसाद	:	लड़के का बाप
रतन	:	नौकर

(मामूली तरह से सजा हुआ एक कमरा। अन्दर के दरवाजे से आते हुए जिन महाशय की पीठ नजर आ रही है वह अधेड़ उम्र के मालूम होते हैं, एक तख्त को पकड़े हुए पीछे की ओर चलते-चलते कमरे में आते हैं। तख्त का दूसरा सिरा उनके नौकर ने पकड़ रखा है।)

बाबू —अबे धीरे-धीरे चल। ...अब तख्त को उधर मोड़ दे...उधर...। ...बस, बस।

नौकर —बिछा दूँ साहब ?

बाबू —(जरा तेज आवाज में) और क्या करेगा ? परमात्मा के यहाँ अक्ल बट रही थी तो तू देर से पहुँचा था क्या ? .. बिछा दूँ साब !...और यह पसीना किसलिए बहाया है ?

नौकर —(तख्त बिछाता है) ही-ही-ही।

बाबू —हँसता क्यों है ?...अबे, हमने भी जवानी में कसरतें की हैं। कलसों से नहाता था लोटों की तरह। यह तख्त क्या चीज है ?...उसे सीधा कर...यों...हां, बस। ...और सुन, बहूजी से दरी माँग ला, इसके ऊपर बिछाने के लिए। ...चद्दर भी, कल जो धोबी के यहाँ से आई है वही।

(नौकर जाता है। बाबू साहब इस बीच में मेज़पोश ठीक करते हैं। एक झाड़न से गुलदस्ते को साफ करते हैं। कुर्सियों पर भी दो-चार हाथ लगाते हैं। सहसा घर की मालकिन प्रेमा आती है। गंदुमी रंग, छोटा कद। चेहरे और आवाज़ से जाहिर होता

है कि किसी काम में बहुत व्यस्त हैं। उनके पीछे-पीछे भीगी बिल्ली की तरह नौकर आरहा है—खाली हाथ। बाबू साहब—रामस्वरूप—दोनों की तरफ देखने लगते हैं।)

प्रेमा —मैं कहती हूं तुम्हें इस वक्त धोती की क्या जरूरत पड़ गई ! एक तो वैसे ही जल्दी-जल्दी में...

रामस्वरूप —धोती ?

प्रेमा —हाँ, अभी तो बदल कर आये हो, और फिर न जाने किसलिए...

रामस्वरूप —लेकिन तुमसे धोती माँगी किसने ?

प्रेमा —यही तो कह रहा था रतन।

रामस्वरूप —क्यों बे रतन, तेरे कानों में डाट लगी है क्या ? मैंने कहा था—धोबी के यहाँ से जो चद्दर आई है, उसे मांग ला...अब तेरे लिए दूसरा दिमाग कहाँ से लाऊँ। उल्लू कहीं का।

प्रेमा —अच्छा जा, पूजावाली कोठरी में लकड़ी के बक्स के ऊपर धुले हुए कपड़े रक्खे हैं न ? उन्हींमें से एक चद्दर उठा ला।

रतन —और दरी ?

प्रेमा —दरी यहीं तो रक्खी है, कोने में। वह पड़ी तो है।

रामस्वरूप —(दरी उठाते हुए) और बीबीजी के कमरे में से हारमोनियम उठा ला और सितार भी। ...जल्दी जा। (रतन जाता है। पति-पत्नी तख्त पर दरी बिछाते हैं।)

प्रेमा —लेकिन वह तुम्हारी लाड़ली बेटी तो मुंह फुलाये पड़ी है।

रामस्वरूप —मुँह फुलाये।...और तुम उसकी माँ किस मर्ज़ की दवा हो ? जैसे-तैसे करके वे लोग पकड़ में आये

हैं। अब तुम्हारी बेवकूफी से सारी मेहनत बेकार जाय तो मुझे दोष मत देना।

प्रेमा —तो मैं ही क्या करूँ? सारे जतन करके तो हार गई। तुम्हींने उसे पढ़ा-लिखाकर इतना सिर चढ़ा रक्खा है। मेरी समझ में तो यह लिखाई-पढ़ाई के जंजाल आते नहीं। अपना जमाना अच्छा था! 'आ ई' पढ़ ली, गिनती सीख ली और बहुत हुआ तो 'स्त्री-सुबोधिनी' पढ़ ली। सच पूछो तो स्त्री-सुबोधिनी में ऐसी-ऐसी बातें लिखी हैं—ऐसी बातें कि क्या तुम्हारी बी० ए०, एम० ए० की पढ़ाई होगी। और आजकल के तो लच्छन ही अनोखे हैं—

रामस्वरूप —ग्रामोफोन बाजा होता है न!

प्रेमा —क्यों

रामस्वरूप —दो तरह का होता है। एक तो आदमी का बनाया हुआ। उसे एक बार चलाकर जब चाहे रोक लो। और दूसरा परमात्मा का बनाया हुआ। उसका रिकार्ड एक बार चढ़ा तो रुकने का नाम नहीं।

प्रेमा —हटो भी। तुम्हें ठठोली ही सूझती रहती है। यह तो होता नहीं कि उस अपनी उमा को राह पर लाते। अब देर ही कितनी रही है उन लोगों के आने में।

रामस्वरूप —तो हुआ क्या?

प्रेमा —तुम्हीं ने तो कहा था कि जरा ठीक-ठीक करके नीचे लाना। आजकल तो लड़की कितनी ही सुन्दर हो, बिना टीमटाम के भला कौन पूछता है? इसी मारे मैंने तो पौडर वौडर उसके सामने रक्खा था। पर उसे तो इन चीजों से न जाने किस जन्म की नफरत है। मेरा कहना था कि आंचल में मुँह लपेटकर लेट

गई। भई, मैं तो बाज़ आई तुम्हारी इस लड़की से।

रामस्वरूप —न जाने कैसा इसका दिमाग है। वरना आजकल की लड़कियों के सहारे तो पौडर का कारबार चलता है।

प्रेमा —अरे मैंने तो पहले ही कहा था। इंट्रैंस ही पास करा देते—लड़की अपने हाथ रहती; और इतनी परेशानी न उठानी पड़ती! पर तुम तो—

रामस्वरूप —(बात काट कर) चुप, चुप।... (दरवाजे में झांकते हुए) तुम्हें कतई अपनी ज़बान पर काबू नहीं है। कल ही यह बता दिया था कि उन लोगों के सामने जिक्र और ढँग से होगा मगर तुम तो अभी से सब-कुछ उगले देती हो। उनके आने तक तो न जाने क्या हाल करोगी?

प्रेमा —अच्छा बाबा, मैं न बोलूँगी। जैसी तुम्हारी मर्जी हो करना। बस मुझे तो मेरा काम बता दो।

रामस्वरूप —तो उमा को जैसे हो तैयार कर लो। न सही पौडर। वैसे कौन बुरी है। पान लेकर भेज देना उसे। और नाश्ता तो तैयार है न? (रतन का आना) आ गया रतन?...इधर ला, इधर। बाजा नीचे रख दे। चद्दर खोल।...पकड़ा तो जरा इधर से।

(चद्दर बिछाते हैं)

प्रेमा —नाश्ता तो तैयार है। मिठाई तो वे लोग ज्यादा खायेंगे नहीं। कुछ नमकीन चीजें बना दी हैं। फल रक्खे हैं ही। चाय तैयार है, और टोस्ट भी। मगर हां, मक्खन? मक्खन तो आया ही नहीं।

रामस्वरूप —क्या कहा? मक्खन नहीं आया? तुम्हें भी किस वक्त याद आई है। जानती हो कि मक्खन वाले की दुकान दूर है, पर तुम्हें तो ठीक वक्त पर कोई बात

सूझती ही नहीं। अब बताओ, रतन मक्खन लाये कि यहां का काम करे। दफ्तर के चपरासी से कहा था आने के लिए सो नखरों के मारे...

प्रेमा —यहाँ का काम कौन ज्यादा है? कमरा तो सब ठीक-ठाक है ही। बाजा-सितार आ ही गया। नाश्ता यहाँ बराबर वाले कमरे में 'ट्रे' में रक्खा हुआ है, सो तुम्हें पकड़ा दूँगी। एकाध चीज़ खुद ले आना। इतनी देर में रतन मक्खन ले ही आयगा। दो आदमी ही तो हैं?

रामस्वरूप —हाँ, एक तो बाबू गोपालप्रसाद और दूसरा खुद लड़का है। देखो, उमा से कह देना कि ज़रा करीने से आये। ये लोग ज़रा ऐसे ही हैं। गुस्सा तो मुझे बहुत आता है इनके दक़ियानूसी ख़यालों पर। खुद पढ़े-लिखे हैं, वकील हैं, सभा-सोसाइटियों में जाते हैं, मगर लड़की चाहते हैं ऐसी कि ज्यादा पढ़ी-लिखी न हो।

प्रेमा —और लड़का?

रामस्वरूप —बताया तो था तुम्हें। बाप सेर है तो लड़का सवा सेर। बी० एस०सी० के बाद लखनऊ में ही तो पढ़ता है मेडिकल कालेज में। कहता है कि शादी का सवाल दूसरा है, तालीम का दूसरा। क्या करूँ, मजबूरी है। मतलब अपना है वरना इन लड़कों और इनके बापों को ऐसी कोरी-कोरी सुनाता कि ये भी...

रतन —(जो अबतक दरवाजे के पास चुपचाप खड़ा हुआ था, जल्दी-जल्दी) बाबूजी, बाबूजी।

रामस्वरूप —क्या है?

रतन —कोई आते हैं।

रामस्वरूप —(दरवाजे से बाहर झाँककर जल्दी मुंह अन्दर करते हुए) अरे, ए प्रेमा, वे आ भी गये। (नौकर पर नजर पड़ते ही) अरे तू यहाँ खड़ा है, बेवकूफ। गया नहीं मक्खन लाने?...सब चौपट कर दिया।...अबे, उधर से नहीं, अन्दर के दरवाजे से जा (नौकर अंदर आता है) और तुम जल्दी करो प्रेमा। उमा को समझा देना थोड़ा-सा गा देगी।

(प्रेमा जल्दी से अन्दर की तरफ आती है। उसकी धोती जमीन पर रक्खे हुए बाजे से अटक जाती है)

प्रेमा —उँह। यह बाजा वह नीचे ही रख गया है, कमबख्त।

रामस्वरूप —तुम जाओ, मैं रखे देता हूं।...जल्दी।

(प्रेमा जाती है। बाबू रामस्वरूप बाजा उठाकर रखते हैं। किवाड़ों पर दस्तक।)

रामस्वरूप —हँ-हँ-हँ। आइए, आइए ...हँ-हँ-हँ।

(बाबू गोपालप्रसाद और उनके लड़के शंकर का आना। आँखों से लोक-चतुराई टपकती है। आवाज़ से मालूम होता है कि काफी अनुभवी और फितरती महाशय हैं। उनका लड़का कुछ खीस निपोरनेवाले नौजवानों में से है। आवाज़ पतली है और खिसियाहट-भरी। झुकी कमर इनकी खासियत है।)

रामस्वरूप —(अपने दोनों हाथ मलते हुए) हँ-हँ, इधर तशरीफ़ लाइए इधर...।

(बाबू गोपालप्रसाद बैठते हैं, मगर बेंत गिर पड़ता है।)

रामस्वरूप —यह बेंत!...लाइए मुझे दीजिए। (कोने में रख

देते हैं। सब बैठते हैं।) हँ हँ....मकान ढूँढने में कुछ तकलीफ तो नहीं हुई ?

गोपालप्रसाद —(खखारकर) नहीं। तांगेवाला जानता था।....और फिर हमें तो यहाँ आना ही था। रास्ता मिलता कैसे नहीं ?

रामस्वरूप —हँ हँ हँ। यह तो आपकी बड़ी मेहरबानी है। मैंने आपको तकलीफ तो दी—

गोपालप्रसाद —अरे नहीं साहब ! जैसा मेरा काम वैसा आपका काम। आखिर लड़के की शादी तो करनी ही है। बल्कि यों कहिए कि मैंने आपके लिए खासी परेशानी कर दी।

रामस्वरूप —हँ हँ हँ ? यह लीजिए, आप तो मुझे काँटों में घसीटने लगे। हम तो आपके—हँ हँ हँ–सेवक ही हैं। हँ हँ ! (थोड़ी देर बाद लड़के की ओर मुखातिब होकर) और कहिए, शंकर बाबू कितने दिनों की और छुट्टियाँ हैं ?

शंकर —जी, कालिज की तो छुट्टियाँ नहीं हैं। 'वीक एण्ड' में चला आया था।

रामस्वरूप —तो आपके कोर्स खत्म होने में तो अब साल भर रहा होगा ?

शंकर —जी, यही कोई साल दो साल।

रामस्वरूप —साल दो साल ?

शंकर —हँ हँ हँ !....जी, एकाध साल का 'मार्जिन' रखता हूँ।

गोपालप्रसाद —बात यह है साहब कि यह शंकर एक साल बीमार हो गया था। क्या बताएँ, इन लोगों को इसी उम्र में सारी बीमारियाँ सताती हैं। एक हमारा जमाना था कि स्कूल से आकर दर्जनों कचौड़ियाँ उड़ा जाते थे, मगर फिर जो खाना खाने बैठते तो वैसी-की-वैसी ही भूख।

रामस्वरूप —कचौड़ियाँ भी तो उस जमाने में पैसे की दो आती थीं।

गोपालप्रसाद —जनाब, यह हाल था कि चार पैसे में ढेर-सी बालाई आती थी। और अकेले दो आने की हजम करने की ताकत थी, अकेले! और अब तो बहुतेरे खेल वगैरह भी होते हैं स्कूल में। तब न वौलीबाल जानता था, न टेनिस, न बैडमिण्टन। बस कभी हाकी या कभी क्रिकेट कुछ लोग खेला करते थे। मगर मजाल कि कोई कह जाय कि यह लड़का कमजोर है।

(शंकर और रामस्वरूप खीसे निपोरते हैं।)

रामस्वरूप —जी हाँ, जी हाँ! उस जमाने की बात ही दूसरी थी। हँ हँ!

गोपालप्रसाद —(जोशीली आवाज में) और पढ़ाई का यह हाल था कि एक बार कुर्सी पर बैठे कि बारह घंटे की 'सिटिंग' हो गई, बारह घंटे! जनाब, मैं सच कहता हूँ कि उस जमाने का मैट्रिक भी वह अंग्रेजी लिखता था फर्राटे की कि आजकल के एम० ए० भी मुकाबिला नहीं कर सकते।

रामस्वरूप —जी हाँ, जी हाँ! यह तो है ही।

गोपालप्रसाद —माफ कीजिएगा बाबू रामस्वरूप, उस जमाने की जब याद आती है, अपने को जब्त करना मुश्किल हो जाता है।

रामस्वरूप —हँ हँ हँ!....जी हाँ वह तो रंगीन ज़माना था, रंगीन ज़माना! हँ-हँ-हँ।

(शंकर भी हीं-हीं करता है।)

गोपालप्रसाद —(एक साथ अपनी आवाज और तरीका बदलते हुए) अच्छा, तो साहब फिर 'बिजनेस' की बातचीत हो जाय।

रामस्वरूप —(चौंककर) बिज़नेस —बिज़ि...(समझ कर) ओह . अच्छा, अच्छा। लेकिन ज़रा नाश्ता तो कर लीजिए। (उठते हैं ?)

गोपालप्रसाद —यह सब आप क्या तकल्लुफ करते हैं ?

रामस्वरूप —हँ....हँ...हँ तकल्लुफ किस बात का। हँ—हँ ! यह तो मेरी बड़ी तक़दीर है कि आप मेरे यहाँ तशरीफ़ लाये। वरना मैं किस क़ाबिल हूँ। हँ—हँ ! ...माफ़ कीजिएगा ज़रा। अभी हाज़िर हुआ।

(अन्दर जाते हैं।)

गोपालप्रसाद —(थोड़ी देर बाद दबी आवाज़ में) आदमी तो भला है, मकान-वकान से हैसियत भी बुरी नहीं मालूम होती। पता चले, लड़की कैसी है।

शंकर —जी...(कुछ खखारकर इधर-उधर देखता है।)

गोपालप्रसाद —क्यों, क्या हुआ।

शंकर —कुछ नहीं।

गोपालप्रसाद —झुककर क्यों बैठते हो, ब्याह तय करने आये हो, कमर सीधी करके बैठो। तुम्हारे दोस्त ठीक कहते हैं कि शंकर की 'बैकबोन'...

(इतने में बाबू रामस्वरूप आते हैं, हाथ में चाय की ट्रे लिये हुए। मेज पर रख देते हैं।)

गोपालप्रसाद —आख़िर आप माने नहीं !

रामस्वरूप —(चाय प्याले में डालते हुए) हँ हँ हँ। आपको विलायती चाय पसंद है या हिन्दुस्तानी ?

गोपालप्रसाद —नहीं-नहीं साहब, मुझे आधा दूध और आधी चाय दीजिए। और ज़रा चीनी ज्यादा डालिएगा। मुझे तो भाई यह नया फैशन पसंद नहीं। एक तो वैसे ही चाय में पानी काफ़ी होता है, और फिर चीनी भी

नाम के लिए डाली जाय तो ज़ायका क्या रहेगा ?

रामस्वरूप —हँ-हँ, कहते तो आप सही हैं। (प्याला पकड़ाते हैं।)

शंकर —(खखारकर) सुना है, सरकार अब ज्यादा चीनी लेने वालों पर 'टैक्स' लगाएगी।

गोपालप्रसाद —(चाय पीते हुए) हूँ। सरकार जो चाहे सो करले; पर अगर आमदनी करनी है तो सरकार को बस एक ही टैक्स लगाना चाहिए।

रामस्वरूप —(शंकर को प्याला पकड़ाते हुए) वह क्या ?

गोपालप्रसाद —खूबसूरती पर टैक्स ? (रामस्वरूप और शंकर हँस पड़ते हैं।) मज़ाक नहीं साहब, यह ऐसा टैक्स है जनाब कि देनेवाले चूँ भी न करेंगे। बस शर्त यह है कि हर एक औरत पर यह छोड़ दिया जाय कि वह अपनी खूबसूरती के 'स्टैण्डर्ड' के माफ़िक अपने ऊपर टैक्स तय कर ले। फिर देखिए, सरकार की कैसी आमदनी बढ़ती है।

रामस्वरूप —(ज़ोर से हँसते हुए) वाह-वाह ! खूब सोचा आपने ! वाकई आजकल यह खूबसूरती का सवाल भी बेढब हो गया है। हम लोगों के जमाने में तो यह कभी उठता भी न था। (तश्तरी गोपालप्रसाद की तरफ़ बढ़ाते हैं।) लीजिए।

गोपालप्रसाद —(समोसा उठाते हुए) कभी नहीं साहब, कभी नहीं।

रामस्वरूप —(शंकर को मुखातिब होकर) आपका क्या ख्याल है शङ्कर बाबू ?

शंकर —किस मामले में ?

रामस्वरूप —यही कि शादी तय करने में खूबसूरती का हिस्सा कितना होना चाहिए।

गोपालप्रसाद —(बीच में ही) यह बात दूसरी है बाबू रामस्वरूप, मैंने

आपसे पहले भी कहा था, लड़की का खूबसूरत होना निहायत ज़रूरी है। कैसे भी हो, चाहे पाउडर वगैरह लगाये, चाहे वैसे ही। बात यह है कि हम आप मान भी जायँ, मगर घर की औरतें तो राजी नहीं होतीं। आपकी लड़की तो ठीक है?

रामस्वरूप —जी हाँ, वह तो अभी आप देख लीजिएगा।

गोपालप्रसाद —देखना क्या। जब आपसे इतनी बातचीत हो चुकी है, तब तो यह रस्म ही समझिए।

रामस्वरूप —हँ-हँ, यह तो आपका मेरे ऊपर भारी अहसान है। हँ-हँ!

गोपालप्रसाद —और ज़ायचा (जन्मपत्र) तो मिल ही गया होगा।

रामस्वरूप —जी, जायचे का मिलना क्या मुश्किल बात है। ठाकुर-जी के चरणों में रख दिया। बस, खुद-बखुद मिला हुआ समझिए।

गोपालप्रसाद —यह ठीक कहा है आपने, बिलकुल ठीक (थोड़ी देर रुक कर) लेकिन हाँ, यह जो मेरे कानों में भनक पड़ी है, यह तो गलत है न?

रामस्वरूप —(चौंक कर) क्या?

गोपालप्रसाद —यही पढ़ाई-लिखाई के बारे में!....जी हाँ, साफ़ बात है साहब, हमें ज्यादा पढ़ी-लिखी लड़की नहीं चाहिए। मेम साहब तो रखनी नहीं, कौन भुगतेगा उनके नखरों को। बस हद से हद मैट्रिक होनी चाहिए.... क्यों शंकर?

शंकर —जी हाँ, कोई नौकरी तो करानी नहीं।

रामस्वरूप —नौकरी का तो कोई सवाल ही नहीं उठता।

गोपालप्रसाद —और क्या साहब। देखिये कुछ लोग मुझसे कहते हैं कि जब आपने अपने लड़के को बी० ए०, एम० ए० तक पढ़ाया है तब उनकी बहुएँ भी ग्रैजुएट लीजिए। भला

पूछिए इन अक्ल के ठेकेदारों से कि क्या लड़कियों की पढ़ाई एक बात है। अरे मर्दों का काम तो है ही पढ़ना और क़ाबिल होना। अगर औरतें भी वही करने लगीं, अंग्रेजी अखबार पढ़ने लगीं और 'पालिटिक्स' वगैरह पर बहस करने लगीं तब तो हो चुकी गृहस्थी। जनाब, मोर के पंख होते हैं, मोरनी के नहीं, शेर के बाल होते शेरनी के नहीं।

रामस्वरूप —जी हाँ, मर्द के दाढ़ी होती है, औरत के नहीं। हँ...हँ ..

(शंकर भी हँसता है, मगर गोपालप्रसाद गम्भीर हो जाते हैं।)

गोपालप्रसाद —हाँ, हाँ। वह भी सही है। कहने का मतलब यह है कि कुछ बातें दुनिया में ऐसी हैं जो सिर्फ मर्दों के लिए हैं और ऊँची तालीम भी ऐसी ही चीजों में से एक है।

रामस्वरूप —(शंकर से) चाय और लीजिए।

शंकर —धन्यवाद। पी चुका।

रामस्वरूप —(गोपालप्रसाद से) आप ?

गोपालप्रसाद —बस साहब, अब तो खत्म ही कीजिए।

रामस्वरूप —आपने तो कुछ खाया ही नहीं। चाय के साथ 'टोस्ट' नहीं थे। क्या बतायें, वह मक्खन—

गोपालप्रसाद —नाश्ता ही तो करना था साहब, कोई पेट तो भरना था नहीं। और फिर टोस्ट-वोस्ट मैं खाता भी नहीं।

रामस्वरूप —हँ....हँ। (मेज को एक तरफ सरका देते हैं। फिर अन्दर के दरवाजे की तरफ मुंह कर ज़रा जोर से) अरे ज़रा पान भिजवा देना...!...सिगरेट मँगवाऊँ ?

गोपालप्रसाद —जी नहीं।

[पान की तश्तरी हाथों में लिए उमा आती है। सादगी के कपड़े। गर्दन झुकी हुई। बाबू गोपालप्रसाद

आँखें गड़ा कर और शंकर आँखें छिपाकर उसे ताक रहे हैं।]

रामस्वरूप —हँ...हँ!...यही, हँ...हँ, आपकी लड़की है। लाओ बेटी, पान मुझे दो।

[उमा पान की तश्तरी अपने पिता को देती है। उस समय उसका चेहरा ऊपर को उठ जाता है और नाक पर रक्खा हुआ सोने की रिम वाला चश्मा दीखता है। बाप-बेटे दोनों चौंक उठते हैं।]

गोपालप्रसाद
शंकर — (एक साथ)—चश्मा!!

रामस्वरूप —(जरा सकपकाकर)—जी, वह तो...वह...पिछले महीने में इसकी आँखें दुखनी आगई थीं, सो कुछ दिनों के लिए चश्मा लगाना पड़ रहा है।

गोपालप्रसाद —पढ़ाई-वढ़ाई की वजह से तो नहीं है?

रामस्वरूप —नहीं साहब, वह तो मैंने अर्ज किया न।

गोपालप्रसाद —हूँ। (सन्तुष्ट होकर कुछ कोमल स्वर में) बैठो बेटी।

रामस्वरूप —वहां बैठ जाओ उमा, उस तख्ते पर, अपने बाजे-वाजे के पास। (उमा बैठती है।)

गोपालप्रसाद —चाल में तो कुछ खराबी है नहीं। चेहरे पर भी छवि है!...हां, कुछ गाना बजाना सीखा है?

रामस्वरूप —जी हाँ, सितार भी, और बाजा भी। सुनाओ तो उमा एकाध गीत सितार के साथ।

[उमा सितार उठाती है। थोड़ी देर बाद मीरा का मशहूर गीत 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई' गाना शुरू कर देती है। स्वर से जाहिर है कि गाने का अच्छा ज्ञान है। उसके स्वर में तल्लीनता आ जाती है, यहाँ तक कि उसका मस्तक उठ जाता है। उसकी आँखें

शंकर की झेंपती-सी आँखों से मिल जाती हैं और वह गाते-गाते एक साथ रुक जाती है।]

रामस्वरूप —क्यों, क्या हुआ ? गाने को पूरा करो उमा !

गोपालप्रसाद —नहीं-नहीं साहब, काफी है। लड़की आपकी अच्छा गाती है।

(उमा सितार रखकर अन्दर जाने को उठती है।)

गोपालप्रसाद —अभी ठहरो बेटी।

रामस्वरूप —थोड़ा और बैठी रहो, उमा ! (उमा बैठती है।)

गोपालप्रसाद —(उमा से) तो तुमने पेन्टिंग-वेंटिंग भी...

उमा —(चुप)

रामस्वरूप —हां, वह तो मैं आपको बताना भूल ही गया। यह जो तसवीर टँगी हुई है, कुत्ते वाली, इसीने खींची है। और वह उस दीवार पर भी।

गोपालप्रसाद —हूँ। यह तो बहुत अच्छा है। और सिलाई वगैरह ?

रामस्वरूप —सिलाई तो सारे घर की इसी के जिम्मे रहती है, यहाँ तक कि मेरी कमीजें भी। हँ...हँ...हँ।

गोपालप्रसाद —ठीक !...लेकिन, हां बेटी, तुमने कुछ इनाम-विनाम भी जीते हैं।

[उमा चुप। रामस्वरूप इशारे के लिए खाँसते हैं। लेकिन उमा चुप है, उसी तरह गर्दन झुकाये। गोपालप्रसाद अधीर हो उठते हैं और रामस्वरूप सकपकाते हैं !]

रामस्वरूप —जवाब दो उमा। (गोपाल से) हँ हँ, जरा शरमाती है। इनाम तो इसने...

गोपालप्रसाद —(जरा रूखी आवाज में) जरा इसे भी मुँह तो खोलना चाहिए।

रामस्वरूप —उमा, देखो, आप क्या कह रहे हैं। जवाब दो न।

उमा —(हल्की लेकिन मज़बूत आवाज़ में) क्या जवाब दूँ । बाबूजी ! जब कुर्सी-मेज बिकती है तब दूकानदार कुर्सी-मेज से कुछ नहीं पूछता, सिर्फ खरीदार को दिखला देता है । पसन्द आ गई तो अच्छा है, वरना...

रामस्वरूप —(चौंक कर खड़े हो जाते हैं) उमा, उमा !

उमा —अब मुझे कह लेने दीजिये बाबूजी !...ये जो महाशय मेरे खरीदार बन कर आये हैं, इनसे जरा पूछिये कि क्या लड़कियों के दिल नहीं होता ? क्या उनके चोट नहीं लगती ? क्या वे बेबस भेड़-बकरियाँ हैं, जिन्हें कसाई अच्छी तरह देख-भाल कर खरीदते हैं ?

गोपालप्रसाद —(ताव में आकर) बाबू रामस्वरूप, आपने मेरी इज्जत उतारने के लिए मुझे यहां बुलाया था ?

उमा —(तेज आवाज में) जी हाँ, हमारी बेइज्जती नहीं होती जो आप इतनी देर से नाप-तोल कर रहे हैं ? और जरा अपने इस साहबजादे से पूछिये कि अभी पिछली फरवरी में ये लड़कियों के होस्टल के इर्द-गिर्द क्यों घूम रहे थे, और वहाँ से क्यों भगाये गये थे !

शंकर —बाबूजी चलिए ।

गोपालप्रसाद —लड़कियों के होस्टल में ?..क्या तुम कालेज में पढ़ी हो ?

(रामस्वरूप चुप !)

उमा —जी हाँ, मैं कालेज में पढ़ी हूँ । मैंने बी० ए० पास किया है । कोई पाप नहीं किया, कोई चोरी नहीं की, और न आपके पुत्र की तरह ताक-झाँक कर कायरता दिखाई है । मुझे अपनी इज्जत—अपने मान का खयाल तो है । लेकिन इनसे पूछिये कि ये किस तरह नौकरानी के पैरों पड़कर अपना मुंह छिपा कर भागे थे !

रामस्वरूप —उमा, उमा !

गोपालप्रसाद —(खड़े होकर गुस्से में) बस हो चुका । बाबू रामस्वरूप आपने मेरे साथ दगा किया। आपकी लड़की बी० ए० पास है, और आपने मुझसे कहा था कि सिर्फ मैट्रिक तक पढ़ी है। लाइये मेरी छड़ी कहाँ है। मैं चलता हूं। (छड़ी ढूंढ कर उठाते हैं।) बी० ए० पास? उफ्फोह ! गजब हो जाता ! झूठ का भी कुछ ठिकाना है। आओ बेटे, चलो...(दरवाजे की ओर बढ़ते हैं)

उमा —जी हाँ, जाइये, जरूर चले जाइये। लेकिन घर जाकर जरा यह पता लगाइयेगा कि आपके लाड़ले बेटे के रीढ़ की हड्डी भी है या नहीं—यानी बैकबोन, बैकबोन—

[बाबू गोपालप्रसाद के चेहरे पर बेबसी का गुस्सा है और उनके लड़के के रुलासापन। दोनों बाहर चले जाते हैं। बाबू रामस्वरूप कुर्सी पर धम से बैठ जाते हैं। उमा सहसा चुप हो जाती है ; लेकिन उसकी हँसी सिसकियों में तब्दील हो जाती है। प्रेमा का घबराहट की हालत में आना।]

प्रेमा —उमा, उमा...रो रही है ?

[यह सुनकर रामस्वरूप खड़े होते हैं। रतन आता है।]

रतन —बाबूजी, मक्खन !

(सब रतन की तरफ देखते हैं और पर्दा गिरता है।)

हमारे यहां से प्राप्य अन्य कथा व नाट्य साहित्य

हमारा स्वाधीनता संग्राम	(नाटक)
कलवार की करतूत	”
मां का बेटा	”
बालकों का विवेक	”
जातक-कथा	(कहानी)
कुब्जा सुन्दरी	”
अस्थि पिंजर	”
प्रेम में भगवान्	”
महाभारत-कथा	”
अमिट रेखाएं	”
जीवन-पराग	”
नवजीवन	(उपन्यास)
प्रियदर्शी अशोक	”

सस्ता साहित्य मण्डल

डेढ़ रुप